आर.एन.आई. नं.
यू.पी.एम.यू.एल. ००५९९
षाण्मासिकी

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

आगमतन्त्र की शोधपत्रिका

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः

श्रीविद्या साधना पीठ

वाराणसी -उ.प्र.

अङ्क- १

वर्ष - २

श्रीकरपात्री स्वामी (षोडशानन्दनाथ)

पूज्य गुरूदेव दत्तात्रेयानंदनाथ (सीताराम कविराज)

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ

वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष २ अङ्क १

प्रकाशक
प्रकाशानन्दनाथ
अध्यक्ष,
श्रीविद्यासाधनापीठ, शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी।

अगस्त, २०१२

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

T.R.No. UPMUL 00599

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष २ अङ्क १

Publisher :
Prakashananda Nath
President
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005 (U.P.)
Ph. 0542-2366622

August, 2012

Publications are available at :
Publications Unit
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

T.R.No. UPMUL 00599

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

विषय–सूची

सम्पादकीय

शोधलेख

१.	गणपति तत्त्व रहस्य	पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज	१
२.	जप–रहस्य	महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज	९
३.	भारतीय आस्था और भगवती गङ्गा	प्रो. युगल किशोर मिश्र	२०
४.	करपात्रस्वामिभाष्य में 'श्री' का अर्थवैशिष्ट्य	प्रो. श्रीकिशोर मिश्र	२४
५.	करपात्री जी के द्वारा प्रतिपादित शक्ति का अनिर्वचनीय स्वरूप	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	२७
६.	सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्	दीपककुमार शर्मा	३३
७.	भारतीय भाषाओं के तान्त्रिक वाङ्मय का आकलन : एक शोध विद्वान् की लेखनी से	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	३७
८.	जैन तन्त्र और साहित्य सम्पदा	डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी	४५
९.	ज्योतिषशास्त्रस्यागममूलकत्वम्	गणेश त्रिपाठी	८४

१०.	गणितज्योतिष एवं आगम परम्परा का अन्तस्सम्बन्ध	मधुसूदन मिश्र	८९
११.	आगम और महाभारत का अन्त:सम्बन्ध	ईप्सिता मुखर्जी	९५
१२.	श्रीविद्यासाधनापीठ, वाराणसी का परिचय		९९
१३.	श्रीविद्यासाधनापीठ की गतिविधियाँ २०११-१२		१००
१४.	लेखकों से निवेदन		१०३
१५.	स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण		१०४

सम्पादकीय

श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना शाक्तसम्प्रदाय की अत्यन्त रहस्यमय और उत्कृष्ट उपासना मानी गयी है। मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ अथवा वामदेव, शिव और दुर्वासा के द्वारा उपदिष्ट साधना मार्गों को निर्देश मिलता है, किन्तु सम्प्रति कामदेव द्वारा प्रवर्तित कादिविद्या और लोपामुद्रा द्वारा उपदिष्ट हादिविद्या के सम्प्रदाय ही परिज्ञात है। उनमें भी कामदेव द्वारा प्रवर्तित कादिविद्या सम्प्रदाय ही अधिक मान्य और उपासना में विद्यमान है।

पञ्चदशाक्षरी कामराज विद्या के भी दो प्रकार हैं- शाक्त और शाम्भव। इनमें से शाक्त प्रकार ऊर्ध्वान्माय तथा शाम्भव प्रकार पूर्वान्माय से सम्बद्ध है। पञ्चदशाक्षरी कामराजविद्या का शाक्त प्रकार कीलकजनित शक्तिरहित्य से विनिर्मुक्त है, जबकि शाम्भव प्रकार में दोष है। लोपामुद्रा द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय भी शाक्त और शाम्भव प्रकार के हैं।

पञ्चदशाक्षरी कामराजविद्या का समुपदेश 'तन्त्रराज' और 'त्रिपुरोपनिषद्' में किया गया है। लोपामुद्रा द्वारा उपदिष्ट हादिविद्या भी पञ्चदशाक्षरी ही है और उसका शाक्त उपनिषदों में उपदेश किया गया है।

यह ज्ञातव्य है कि मनु द्वारा उपासित विद्या अष्टादशाक्षरी थी और चन्द्र तथा कुबेर द्वाविंशत्यक्षरात्मिका विद्या की उपासना करते थे। बाह्वच उपनिषद् कादि और हादि विद्या के साथ-साथ सादिविद्या का भी उल्लेख करती है, किन्तु सम्प्रति कादि विद्या उपासना ही अधिक प्रचलन में है। फिर भी 'योगिनीहृदय' अथवा 'नित्याहृदय' अथवा 'सुन्दरहृदय' नामक आगमग्रन्थ जिस उपासनापद्धति का उपदेश करता है उसकी उभयथा व्याख्या की गयी है। अमृतानन्दनाथ की टीका 'दीपिका' में उसकी हादिविद्यामूलक व्याख्या है और भास्करराय रचित 'सेतुबन्ध' नामक टीका इसी ग्रन्थ की कादिविद्यामूलक व्याख्या का मार्ग अपनाती है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज जैसे महामनीषी विद्वान् मानते हैं कि 'दीपिका' द्वारा प्रस्तुत व्याख्या अधिक प्राचीनधारा का प्रतिनिधित्व करती है और रहस्य साधना की जटिलताओं को समझने के लिये अधिक सुरक्षित तथा उपयोगी हैं।

श्रीविद्या उपासना में बहिर्यागात्मक, जपात्मक तथा अन्तर्यागात्मक स्वरूप अनुष्ठित होता है। यद्यपि बहिर्याग, जप तथा अन्तर्याग एक दूसरे के बिना नहीं है, फिर भी प्रधानता की दृष्टि से बहिर्याग, जप और

अन्तर्याग का स्वरूप विविक्त भी होता है। 'त्रिपुरोपनिषद्' आदि ग्रन्थ उपासना के बहिर्यागात्मक तथा जपात्मक पक्ष पर प्रकाश डालते हैं तो 'भावनोपनिषद्' अन्तर्याग के रहस्य को उन्मीलित करती है।

महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'नित्याषोडशिकार्णव' के अन्तिम तीन प्रविभागों (६ से ८) का स्वतन्त्र नाम है – 'योगिनीहृदय'। 'नित्याषोडशिकार्णव' भी 'वामकेश्वरतन्त्र' का भाग है, जो आगमिक परम्परा के त्रिपुरा सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रामाणिक स्रोत है।

'योगिनीहृदय' श्रीविद्या उपासना के अन्तर्यागात्मक स्वरूप के रहस्यों को प्रकाशित करने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

योगिनीहृदय तीन पटलों में विभक्त है, जो श्रीविद्या उपासना के तीन आयाम अर्थात् चक्र, मन्त्र तथा पूजा के सङ्केत अथवा रहस्यात्मक अर्थ को आत्मसात् करने के लिये परम उपयोगी हैं। इन रहस्यों अथवा सङ्केतों को आत्मसात् कर अन्तर्याग की साधना सम्भव है। इस दृष्टि से 'योगिनीहृदय' पर आगामी अङ्कों में विचार भगवती के अनुग्रह से सम्भव हो – यह प्रार्थना है।

गणपति तत्त्व रहस्य

पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्त श्री स्वामी करपात्री जी महाराज

सर्वजगन्नियन्ता पूर्ण परमतत्त्व ही गणपतितत्त्व है; क्योंकि 'गणानां पति: गणपति:।' 'गण' शब्दसमूह का वाचक होता है— '**गणशब्द: समूहस्य वाचक: परिकीर्त्तित:**।' समूहों के पालन करने वाले परमात्मा को गणपति कहते हैं। देवादिकों के पति को भी गणपति कहते हैं। अथवा 'महत्तत्त्वादितत्त्वगणानां पति: गणपति:।' अथवा 'निर्गुणसगुणब्रह्मगणानां पति: गणपति:', तथा च सर्वविध गणों को सत्तास्फूर्ति देने वाला जो परमात्मा है, वही गणपति है। अभिप्राय यह कि '**आकाशस्तल्लिङ्गात्**' इस न्याय से जिसमें ब्रह्मतत्त्व के जगदुत्पत्तिस्थितिलयत्व, जगन्नियन्तृत्व, सर्वपालकत्वादि गुण पाये जाएँ, वही ब्रह्म होता है। जैसे आकाश का जगदुत्पत्तिस्थितिकारणत्व '**आकाशादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते**' इस श्रुति से जाना जाता है, इसलिए वह भी आकाशपदवाच्य परमात्मा माना जाता है, वैसे ही '**ॐ नमस्ते गणपतये त्वमेव केवलं कर्त्तासि, त्वमेव केवलं धर्तासि, त्वमेव केवलं हर्तासि, त्वमेव केवलं खल्विदं ब्रह्मासि**' इत्यादि *गणपत्यथर्वशीर्ष* वचन से गणपति ब्रह्म ही हैं।

अतीन्द्रिय, सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्णय केवल शास्त्र के ही आधार पर किया जा सकता है। जैसे शब्द की अवगति श्रोत्र से ही होती है, वैसे ही पूर्ण परमतत्त्व की अवगति शास्त्र से ही होती है। इसलिए '**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**' '**शास्त्रयोनित्वात्**' इत्यादि श्रुतिसूत्र तथा अनेकविध युक्तियों से भी यही सिद्ध होता है कि सर्वजगत्कारणब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। यदि शास्त्रातिरिक्त अन्य प्रमाणों से वस्तुतत्त्व की अवगति हो जाए, तो शास्त्र को अनुवादकमात्र से होने से नैरर्थक्य-प्रसङ्ग दुर्वार होगा, इसलिए गणपतितत्त्व की अवगति में मुख्यतया शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रानुसार यही जाना जाता है कि सर्व दृश्यजगत् का पति ही गणपति है; क्योंकि 'गण्यन्ते बुद्ध्यन्ते ते गणा:' इस व्युत्पत्ति से सर्व दृश्यमात्र ही गण है और उसका जो अधिष्ठान है, वही गणपति है। कल्पित की स्थिति, प्रवृत्ति अधिष्ठान से ही होती है, अत: कल्पित का पति अधिष्ठान ही युक्त है। यद्यपि कहा जा सकता है कि तब तो भिन्न-भिन्न पुराणों में शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदि सभी ब्रह्मरूप से विवक्षित हैं। जब कि ब्रह्मतत्त्व एक ही है, तो उसक नाना रूप भिन्न-भिन्न पुराणों में कैसे पाये जाते हैं? इसका उत्तर यही है कि एक ही परमतत्त्व भिन्न-भिन्न उपासकों की भिन्न-भिन्न अभिलषित सिद्धि के लिए अपनी अचिन्त्य लीला-शक्ति से भिन्न-भिन्न गुण गण सम्पन्न होकर नामरूपवान् होकर अभिव्यक्त होता है। जैसे सर्वज्ञानत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व, सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणविशिष्ट ब्रह्मत्त्व की उपासना करने से उपासकों को उपास्य विशेषण गुण ही फल रूप में प्राप्त होते हैं, ठीक वैसे ही प्राधान्येन विघ्नविनाशकत्वादिगुणगणविशिष्ट गणपति रूप में वही परमतत्त्व आविर्भूत होता है।

यदि कहा जाए कि फिर इसी तरह से बाह्याभिमत भिन्न-भिन्न देव भी ब्रह्मतत्त्व ही होंगे; तथा इतना ही क्यों, जब कि सारा ही प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व है, तब गणपति ही क्यों विशेष रूप से ब्रह्म कहे जाएँ? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि अधिष्ठान रूप से बाह्याभिमत देव तथा तत्तद्वस्तु सकल ब्रह्म रूप कहे जा सकते हैं, तथापि तत्तद्गुणगणविशिष्टरूप से ब्रह्मत्व तो केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है; अर्थात् शास्त्र ही जिन-जिन नाम रूप गुण युक्त तत्त्वों को ब्रह्म बतलाते हैं, वही ब्रह्म हो सकते हैं, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान कराने में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हो सकता है। शास्त्र मुख्य रूप से वेद और वेदानुसारी स्मृतीतिहास-पुराणादि ही हैं, यह बात आगे पूर्ण रूप से विवेचित की जाएगी। शास्त्र गणपति को पूर्ण परब्रह्म बतलाते हैं। पूर्वोक्त *'गणपत्यथर्व'* श्रुति में गणपति को **'त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि'** ऐसा कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि गणपति के स्वरूप में नर तथा गज इन दोनों का ही सामञ्जस्य पाया जाता है। यह मानो प्रत्यक्ष ही परस्पर विरुद्ध से प्रतीयमान तत्पदार्थ तथा त्वं पदार्थ के अभेद को सूचित करता है, क्योंकि तत्पदार्थ सर्वजगत् कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा होता है, एवं त्वं पदार्थ अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान् जीव होता है। उन दोनों का ऐक्य यद्यपि आपात विरुद्ध है, तथापि लक्षणा से विरुद्धांश द्वय का त्याग कर एकता सुसम्पन्न होती है। तद्वत् लोक में यद्यपि नर और गज का ऐक्य असम्मत है, तथापि लक्षणा से विरुद्धधर्माश्रय भगवान् में उसका सामञ्जस्य है। अथवा जैसे तत्पद लक्ष्यार्थ सर्वोपाधिनिष्कृष्ट **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** एवं लक्षणलक्षित ब्रह्म है, वैसे ही त्वं पदार्थ जगन्मय सोपाधिक ब्रह्म है। इन दोनों का अखण्डैकरस, 'असि' पदार्थ में सामञ्जस्य है। इसी तरह नर और गज स्वरूप का सामञ्जस्य गणपति स्वरूप में है। 'त्वं' पदार्थ नर स्वरूप है तथा 'तत्' पदार्थ गज स्वरूप है एवं अखण्डैकरस गणपतिरूप 'असि' पदार्थ में इन दोनों का सामञ्जस्य है।

शास्त्रों में नरपद से प्रणवात्मक सोपाधिक ब्रह्म कहा गया है—**'नराज्जातानि तत्त्वानि नराणीति विदुर्बुधाः।'** गज शब्दार्थ शास्त्रों में ऐसा किया है—'समाधिना योगिनो गच्छन्ति यत्र इति गः, यस्मात् बिम्बप्रतिबिम्बवत्तया प्रणवात्मकं जगज्जायते इति जः।' समाधि से योगी लोग जिस परमतत्त्व को प्राप्त करते हैं, वह 'ग' है और जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, वैसे ही कार्यकारण स्वरूप प्रणवात्मक प्रपञ्च जिससे उत्पन्न होता है, उसे 'ज' कहते हैं। **'जन्माद्यस्य यतः', 'यस्मादोङ्कारसम्भूतिः यतो वेदो यतो जगत्'** इत्यादि वचन भी उसके पोषक हैं। सोपाधिक 'त्वं' पदार्थात्मक नर-गणेश का पादादि कण्ठपर्यन्त देह है। यह सोपाधिक होने से निरुपाधिकापेक्षया निकृष्ट है, अतएव अधोभूताङ्ग है। निरुपाधिक सर्वोत्कृष्ट 'तत्' पदार्थमय गणेशजी का कण्ठादिमस्तकपर्यन्त गज स्वरूप है, क्योंकि वह निरुपाधिक होने से सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण पादादि-मस्तकपर्यन्त गणेशजी का देह 'असि' पदार्थ अखण्डैकरस है। यह गणेश एकदन्त है। 'एक' शब्द 'माया' का बोधक है और 'दन्त' शब्द 'मायिक' का बोधक है। तथा च *मौद्गले*—

एकशब्दात्मिका माया तस्या :सर्वसमुद्भवम्।
दन्त :सत्ताधरस्तत्र मायावाचक उच्चते।

अर्थात् गणेशजी में माया और मायिक का योग होने से वे एकदन्त कहलाते हैं। गणेशजी वक्रतुण्ड भी हैं। 'वक्रं आत्मरूपं मुखं यस्य।' वक्र टेढ़े को कहते हैं, आत्मस्वरूप टेढ़ा है, क्योंकि सर्वजगत् मनोवचनों का

गोचर है, किन्तु आत्मतत्त्व उनका (मन-वाणी का) अविषय है। तथा च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि वचन हैं। और भी—

कण्ठाधो मायया युक्तं मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।
वक्राख्यं तेन विघ्नेशस्तेनायं वक्रतुण्डकः।।

गणेशजी 'चतुर्भुज' भी हैं; क्योंकि देवता, नर, असुर और नाग, इन चारों का स्थापन करने वाले हैं; एवं चतुर्वर्ग तथा चतुर्वेदादि के भी स्थापक हैं। तथा च—

स्वर्गेषु देवताश्चायं पृथ्व्यां नरास्तथाऽतले।
असुरान्नागमुख्यांश्च स्थापयिष्यति बालकः।।
तत्त्वानि चालयद्विप्रास्तस्मान्नाम्ना चतुर्भुजः।
चतुर्णां विविधानाञ्च स्थापकोऽयं प्रकीर्तितः।।

वे अपने चारों हस्तों में पाश, अङ्कुश, वर और अभय भक्तानुग्रहार्थ धारण करते हैं। भक्तों के मोहरूपी शत्रु को फँसाने के लिए 'पाश' तथा सर्वजगन्नियन्तृरूप ब्रह्म 'अङ्कुश' है। दुष्टों का नाश करने वाला ब्रह्म 'दन्त' और सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाला ब्रह्म 'वर' है। गणपति भगवान् का वाहन 'मूषक' है। 'मूषक' सर्वान्तर्यामी, सर्वप्राणियों के हृदय रूप में बिल में रहने वाला, सर्व जन्तुओं को भोगों को भोगने वाला ही है। वह चोर भी है, क्योंकि जन्तुओं के अज्ञात सर्वस्व को हरने वाला है। उसको कोई जानता नहीं, क्योंकि माया से गूढ़ रूप अन्तर्यामी ही समस्त भोगों को भोगता है। इसीलिए 'भोक्तारं सर्वतपसाम्' कहा है। 'मुष स्तेये' इस धातु से मूषक शब्द बनता है। मूषक जैसे प्राणियों की सर्व भोग्य वस्तुओं को चुरा कर भी पुण्य-पापों से विवर्जित ही रहता है, वैसे ही मायागूढ़ सर्वान्तर्यामी भी सर्व भोग्य को भोगता हुआ पुण्य-पापों से विवर्जित है। वह सर्वान्तर्यामी गणपति की सेवा के लिए मूषक रूप धारण कर वाहन बना—

मूषकं वाहनाख्यं च पश्यन्ति वाहनं परम्।
तेन मूषकवाहोऽयं वेदेषु कथितोऽभवत्।।
मुष स्तेये तथा धातुः ज्ञातव्यः स्तेयब्रह्मधृक्।
नामरूपात्मकं सर्वं तत्रासद् ब्रह्म वर्तते।।
भोगेषु भोगभोक्ता च ब्रह्माकारेण वर्तते।
अहङ्कारयुतास्तं वै न जानन्ति विमोहिताः।।
ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत्तत्र संस्थिता।
स एव मूषक :प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः।।

एवं भगवान् गणेश 'लम्बोदर' हैं, क्योंकि उनके उदर में ही समस्त प्रपञ्च प्रतिष्ठित हैं और वह स्वयं किसी के उदर में नहीं हैं। तथा च—**तस्योदरात्समुत्पन्नं नानाविश्वं न संशयः**। भगवान् 'शूर्प-कर्ण' हैं, क्योंकि योगीन्द्र मुख से वर्ण्यमान तथा उत्तम जिज्ञासुओं से श्रूयमाण, अतः हृद्गत होकर, शूर्प के समान पाप-पुण्य रूप रज को दूर करके ब्रह्म प्राप्ति सम्पादित कर देते हैं—

रजोयुक्तं यथा धान्यं रजोहीनं करोति च।
शूर्पं सर्वनराणां वै योग्यं भोजनकाम्यया।।
तथा मायाविकारेण युतं ब्रह्म न लभ्यते।
त्यक्तोपासनकं तस्य शूर्प–कर्णस्य सुन्दरि!।।
शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलविकारकम्।
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत्तेन तथा स्मृत:।।

गणेशजी 'ज्येष्ठराज' हैं। सर्व–ज्येष्ठों (बड़ों) के अधिपति या सर्व–ज्येष्ठ जो ब्रह्मादि, उनके बीच में विराजमान हैं। वही गणेशजी शिव–पार्वती के तप से प्रसन्न होकर पार्वती पुत्र के रूप में प्रादुर्भूत हुए हैं।

श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र जैसे दशरथ एवं वसुदेव के पुत्र रूप में प्रादुर्भूत होकर भी उनके अपकृष्ट नहीं हैं, वैसे ही भगवान् गणेश, शिव–पार्वती से उत्पन्न होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं, अतएव उनकी शिव विवाह में विद्यमानता और पूज्यता होना कोई आश्चर्य नहीं है। '*ब्रह्मवैवर्त पुराण*' में लिखा है कि पार्वती के तप से गोलोक निवासी पूर्ण परब्रह्म श्रीकृष्ण परमात्मा ही गणपति रूप से प्रादुर्भूत हुए हैं। अत: गणपति, श्रीकृष्ण, शिव आदि एक ही तत्त्व हैं। इसी गणपति तत्त्व को सूचित करने वाला ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आन: शृण्वन्नूतिभि: सीद सादनम्।।

इससे मिलता–जुलता ही गणपति स्तावक मन्त्र *यजुर्वेद* में भी है। '**गणानां त्वा गणपतिं हवामहे**' इत्यादि। ऋग्वेद के मन्त्र का सर्वथा गणपति स्तुति में ही तात्पर्य है। यजुर्वेदगत मन्त्र का विनियोग यद्यपि अश्वस्तवन में है, तथापि केवल अश्व में मन्त्रोक्त गुण अनुपपन्न होने से अश्वमुखेन गणपति की ही स्तुति इस मन्त्र से होती है। मन्त्रार्थ इस तरह है—'हे वसो! वसति सर्वेषु भूतेषु व्यापकत्वादिति', तत्सम्बुद्धौ। गणानां महदादीनां, ब्रह्मादीनां अन्येषां वा समूहानाम्। गणरूपेण, साक्षिरूपेण, ज्ञेयाधिष्ठानरूपेण वा। 'गण' संख्याने इत्यस्माद् गण्यते बुद्ध्यते, योगिभि: साक्षात्क्रियते य: स गणस्तद्रूपेण वा पालकं, एतादृशं त्वां आह्वयामहे। तथा प्रियाणां वल्लभानां, प्रियपतिं प्रियस्य पालकम्। तच्छेषतयैव सर्वस्य प्रेमास्पदत्वात्। '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीति**' श्रुते:। निधीनां सुखनिधीनां, सुखनिधे: पालकं त्वां हवामहे आह्वयामहे। मदन्त: करणे प्रादुर्भूय स्वस्वरूपानन्दसमर्पणेन ममापि पतिर्भूया:। पुन: हे देव! अहन्ते गर्भधं अजायां प्रकृतौ चैतन्यप्रतिबिम्बात्मकं गर्भं दधातीति गर्भधं बिम्बात्मकं चैतन्यं (तथा च—'**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहमिति**' भगवत्स्मरणात्) आ–आकृष्य योगबलेन, अजानि–स्वहृदि स्थाप्यानि, त्वं च मम हृदि अजासि–क्षिपसि स्वस्वरूपं स्थापयसि। अधिकारी उपासक गणपति की प्रार्थना करता है—हे सर्वान्तर्यामिन्! देवादिसमूहों के अधिष्ठान तथा साक्षी रूप से, प्रियों को प्रिय रूप से, लौकिक प्रेमास्पदों को परम प्रेमास्पद रूप से, लौकिक सुख राशियों को अलौकिक परमानन्द से पालन करने वाले अर्थात् अपने अंश से सम्पादन करने वाले आपका मैं पति रूप से आवाहन करता हूँ। आप मुझे भी स्वरूपानन्द समर्पण द्वारा पालन करें। जगदुत्पादनार्थं

प्रकृति रूप योनि में स्वकीय चैतन्य प्रतिबिम्बात्मक रूप गर्भ को धारण करने वाले बिम्ब चैतन्य रूप को मैं अपनें हृदय में विशुद्धान्त:करण से धारण करूँ, एतदनुकूल अनुग्रह करें। ऐसी प्रार्थना है।

इस तरह मन्त्र प्रतिपाद्य गणपति तत्त्व सर्वविघ्नों का विनाशक है। अतएव **'गणपत्यथर्वशीर्ष'** के नवें मन्त्र में 'विघ्ननाशिने शिव-सुताय वरदंमूर्तये नम:' ऐसा आया है। सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान करते हुए कहा है—'समयकालात्मकभयहारिणे, अमृतात्मकपदप्रदत्वात्' अर्थात् गणेशजी कालात्मक भय को हरण करने वाले हैं, क्योंकि वे अमृतात्मकपद-प्रद हैं। *स्कन्द* तथा *मौद्गल पुराण* में विनायक-माहात्म्य-विषयक एक ऐसी गाथा है—किसी समय अभिनन्दन राजा ने इन्द्र भागशून्य एक यज्ञ आरम्भ किया। यह जानकर इन्द्र कुपित हुआ। उसने काल को बुलाकर यज्ञ भङ्ग की आज्ञा दी। काल पुरुष यज्ञ को भङ्ग करने के लिए विघ्नासुर रूप में प्रादुर्भूत हुआ। जन्ममृत्युमय जगत् काल के अधीन है। काल तीनों लोकों का भ्रमण करता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष काल को जीतकर अमृतमय हो जाता है। ब्रह्म ज्ञान का साधन वैदिक स्मार्त सत्कर्म है। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।'** सत्कर्म से विशुद्धान्त:करण पुरुष को भगवत्तत्त्व साक्षात्कार होता है और उससे ही काल की पराजय होती है। यह जानकर काल उस सत्कर्म के नाश के लिए विघ्न रूप होकर प्रादुर्भूत हुआ। सत्कर्महीन जगत् सदा ही काल के अधीन रहता है। इसीलिए काल स्वरूप विघ्नासुर अभिनन्दन राजा को मारकर जहाँ-तहाँ दृश्यादृश्य रूप से सत्कर्म का खण्डन करता था, उस समय वशिष्ठादि भ्रान्त हो ब्रह्मा की शरण गये और उनकी आज्ञा से भगवान् गणपति की स्तुति की, क्योंकि गणपति को छोड़कर किसी भी देवता में कालनाश सामर्थ्य नहीं है। गणेशजी असाधारण विघ्नविनाशकत्व गुण से सम्पन्न हैं, यह बात श्रुति, स्मृति, शिष्टाचार तद्वाक्य एवं श्रुतार्थापत्ति से अवगत है। श्रीगणेशजी से विघ्नासुर पराजित होकर उनकी शरण में गया और उनका आज्ञावशवर्ती हुआ। अतएव गणेशजी का नाम विघ्नराज भी है। उसी समय से गणेश पूजन स्मरण रहित जो भी सत्कर्म हों, उसमें विघ्न का प्रादुर्भाव अवश्य होता है। इसी नियम से विघ्न भगवान् के आश्रित रहने लगा। विघ्न भी काल रूप होने से भगवत्स्वरूप है। 'विशेषेण जगत्सामर्थ्य हन्तीति विघ्न:।' ब्रह्मादिकों में भी जगत्सर्जनादि सामर्थ्य को हनन करने वाले को विघ्न कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मादि समस्त कार्य ब्रह्म-विघ्न-पराभूत होने के कारण स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते। किन्तु गणेश के अनुग्रह से ही विघ्न विरहित होकर कार्यकरणक्षम होते हैं। विघ्न और विनायक ये दोनों ही भगवान् होने के कारण स्तुत्य हैं। अतएव **'भगवन्तौ विघ्नविनायकौ प्रीयेताम्'** ऐसा पुण्याहवाचन में लिखा है। विघ्न गणेश के अतिरिक्त और किसी के वश में नहीं है, जैसा कि *योगवाशिष्ठ* में शाप देने को उद्यत भृगु के प्रति विघ्नरूप काल ने कहा है—

मा तप: क्षपयाबुद्धे कल्पकालमहानसै:।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि।।
ब्रह्माण्डवलयो ग्रस्ता: निगीर्णा रुद्रकोटय:।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने।।

इससे सिद्ध हुआ कि नि:श्रेयस साधन गणेश स्मरणहीन सभी सत्कर्मों में कालरूप विघ्न का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। अत: विघ्नों के निवारण के लिए गणेश स्मरण सभी सत्कर्मों में आवश्यक है।

यदि कहा जाए कि ओङ्कार ही सर्वमङ्गलमय है, वेदोक्त समस्त कर्म उपासनाओं के आदि में ओङ्कार का ही स्मरण किया जाता है, इसलिए गणेश स्मरण निरर्थक है। तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ओङ्कार भी सगुण गणेश स्वरूप ही है। *मौद्गल पुराण* में भी कहा है—

गणेस्यादिपूजनं चतुर्विधं चतुर्मूर्तिधारकत्वात्।

ब्रह्मा के चारों मुखों से अष्टलक्ष पुराणों का प्रादुर्भाव हुआ। उसके पश्चात् द्वापरान्त में व्यासदेव ने कलियुगीय मन्दमति प्राणियों के बोधार्थ अष्टादशपुराणोपपुराणों का निर्माण किया। उनमें पहला *ब्राह्मपुराण* है, उसमें निर्गुण एवं बुद्धि तत्त्व से परे गणेश तत्त्व का वर्णन है। अन्तिम 'ब्रह्माण्डपुराण' है, उसमें सगुण गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है, क्योंकि वह विशेष रूप से प्रणवात्मक प्रपञ्च का प्रतिपादन करने वाला है। उपपुराणों में भी पहला '*गणेशपुराण*' है, जो कि सगुण निर्गुण गणेश की एकता का प्रतिपादन करने वाला है और गजवदनादि मूर्तिधर गणेश का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ पर जो यह कहा जाता है कि उपपुराण अपकृष्ट हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे उपेन्द्र इन्द्र से अपकृष्ट नहीं, वैसे ही पुराणापेक्षया उपपुराण अपकृष्ट नहीं। *मौद्गल* अन्तिम उपपुराण है। उसमें योगमय गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है। इस तरह वेद, पुराण, उपपुराण आदि के भी आदि में मध्य में और अन्त में गणेश तत्त्व का प्रतिपादन मिलता है। इतना ही क्यों, ब्रह्म-विष्णु आदि भी गणेशांश होने से ही शास्त्र प्रतिपाद्य हैं। कोई लोग बुद्धिस्थ चिदात्म रूप गणेश का स्मरण करके सत्कर्म करते हैं, कोई प्रणवस्मरणपूर्वक सत्कर्म करते हैं, कोई गजवनदनाद्यवयव मूर्तिधर गणेश का स्मरण करते हैं एवं कोई योगमय गणपति का स्मरण करते हैं। इस तरह सभी शुभ कार्यों के आरम्भ में येन-केन-चिद्रूपेण गणेश स्मरण देखा जाता है।

कोई कहते हैं कि प्राण प्रयाण के समय एवं पितृ यज्ञादि में गणेश स्मरण प्रसिद्ध नहीं है, यह ठीक नहीं; क्योंकि गया स्थित गणेश पद पितृ मुक्ति देने वाला है। वेदोक्त पितृ यज्ञारम्भ में गणेश पूजन का निषेध नहीं है। अत: वहाँ भी गणेश पूजन होता है और होना युक्त है, इसीलिए श्रुति गणाधिपति को ज्येष्ठराज पद से सम्बोधित करती है।

गणेशपुराण में त्रिपुर वध के समय शिवजी ने कहा है—

शैवैस्त्वदीयैरुत वैष्णवैश्च शाक्तैश्च सौरैरपि सर्वकार्ये।
शुभाशुभे लौकिकवैदिके च त्वमर्चनीयः प्रथमं प्रयत्नात्।।

गणेश-गीता में मरण काल में भी गणेश स्मरण कहा है—

य: स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयान्वित:।
स यात्यपुनरावृत्तिं प्रसादान्मम भूभुज।।

गणेश-तापिनी में भी कहा है—

ॐ गणेशं वै ब्रह्म, तद्विद्यात्।
यदिदं किञ्च, सर्वं भूतं भव्यं सर्वमित्याचक्षते।।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही निर्गुण एवं विघ्न विनाशकत्वादि-गुणगणविशिष्ट, गजवदनादि-अवयव-मूर्तिधर के रूप में श्रीगणेश हैं।

आजकल कुछ ग्रन्थ चुम्बक पण्डितम्मन्य पाश्चात्यों के शिष्य होकर बाह्य कुसंस्कार-दूषितान्तःकरण सुधारक श्रीगणेश तत्त्व पर विचार करने का साहस कर बैठते हैं। वे अपने गुरुओं के विपरीत भला कितना विचार कर सकते हैं? उनका कहना है कि पहले गणेशजी आर्यों के देवता नहीं थे। किन्तु एतद्देशीय अनार्यों को पराजित करने पर उनके सान्त्वनार्थ गणेश को आर्यों ने अपने देवताओं में मिला लिया है। इस ढङ्ग के विद्वान् कुछ पुराण, कुछ वेद मन्त्र, कुछ चौपाइयों का संग्रह कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय देते हुए ऐसे गणपति स्वरूप का वर्णन करते हैं कि जिससे शास्त्रीय गणपति स्वरूप समाच्छन्न हो जाता है। यद्यपि थोड़ा-सा भी तत्त्व ज्ञान रखने वाले पुरुष के लिए ऐसे असम्बद्धालाप हेय ही हैं, तथापि मूर्खों को तो उनसे व्यामोह होना स्वाभाविक ही है।

कोई इन महानुभावों से पूछे कि गणेश नाम का कोई तत्त्व है, यह आपने कैसे जाना? पुराणादि शास्त्रों द्वारा या यत्र-तत्र गणपति की मूर्तियों को देखकर? यदि शास्त्रों से ही गणेश तत्त्व समझा जाए तो फिर गणेश को अनार्यों के देव कैसे कहा जाए, क्योंकि शास्त्रों से तो वे ब्रह्मादि के पूज्य पाये जाते हैं। रही दूसरी बात मूर्तियों को देखकर जानने की, यदि उसे उचित मानें, तो गणपति को देवता या पूज्य समझना, केवल मूर्खता ही है। कारण यह है कि केवल काष्ठमृत्पाषाणादि को कौन अभिज्ञ जन पूज्य समझेगा? यदि कहा जाए कि अदृश्य शक्ति विशेष का उस मूर्ति में आवाहन कर उसका पूजन किया गया है, तो भी वह विशिष्ट देव शक्ति किस प्रमाण से पहचानी या आहूत की गयी है? इसके उत्तर में यदि यह कहा जाए कि यह बात शास्त्रों से ही जानी गयी तो फिर शास्त्रों ने तो गणेश तत्त्व को अनादि ईश्वर कहा है। अतः वे अनार्यों के देवता कैसे हुए?

एक दूसरी विलक्षण बात यह है कि शास्त्रों के ही आधार पर गणेश को अनार्याभिमत देव समझना और आर्यों का कहीं बाहर से यहाँ आना, भारतवर्ष में प्राथमिक अनार्यों का निवास और अनार्यों के देवता गणेश का आर्यों द्वारा ग्रहण! भला ऐसी बे-सिर-पैर की बातें अनार्य शिष्यों के सिवा और किसको सूझ सकती हैं? भला कोई भी सहृदय पुरुष वेद-पुराणादि शास्त्रों को मानता हुआ भी क्या गणेश का अनार्य देवत्व स्वीकार कर सकता है? वस्तुतः यह सब दूषित संस्कारों एवं आचार शून्य मनमाने शास्त्रों के पुस्तकीय ज्ञान का ही कुफल है। इसीलिए ज्ञानलवदुर्विदग्ध अनभिज्ञों से भी शोचनीय समझे जाते हैं। इसी कारण से अपने यहाँ किसी भी सच्छास्त्र के अध्ययन का यही नियम है कि आचार्य परम्परा से शास्त्रीय गूढ़ रहस्यों को समझना चाहिए और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वाक्यों का समन्वय करना चाहिए। ऐसा न होने से ही श्रीगणपति की भिन्न-भिन्न लीलाएँ प्राणियों को मोहित करने वाली होती हैं। जैसे उनका नित्यत्व, पार्वती पुत्रत्व, शनि के दृष्टिपात से शिरश्छेद और गजवदन का सन्धान आदि।

ये सब बातें केवल गणपति के ही विषय में नहीं, अपितु श्रीरामचन्द्र आदि के विषय में भी हैं। जैसे अजत्व और जायमानत्व, नित्य मुक्तत्व और सीता विरह में रोदनादि। इसलिए गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने कहा है कि—

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।।

वस्तुत: जिन्होंने भगवान् की अघटितघटनापटीयसी माया का महत्त्व नहीं समझा, उन्हें अचिन्त्यमहामहिम वैभवशाली भगवान् की निर्गुण तथा सगुण लीलाओं का ज्ञान कैसे हो?

'अजायमानो बहुधा व्यजायत'
'मत्स्थानि सर्वभूतानि'
'न च मत्स्थानि भूतानि।'

इत्यादि का अभिप्राय कैसे विदित हो? सगुण लीला तो निर्गुण की अपेक्षा भी भावुकों की दृष्टि में दुरवगाह्य है—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जानै कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि–मन भ्रम होइ।।

इसलिए गोस्वामीजी ने कहा है कि अनादि देवता समझकर गणेशादि के रूप–भेद, शिव पूज्यता आदि अंशों में संशय न करें—**जनि कोउ अस संशय करै सुर अनादि जियँ जानि।** फिर जब बड़े–से बड़े तार्किकों का तर्क भौतिक भावों में ही कुण्ठित हो जाता है, तब व्याप्ति या हेतु तथा हेत्वाभास के ज्ञान के शून्य आधुनिक विद्वानों को देवता या ईश्वर के विषय में तर्क करने का क्या अधिकार है? वे महानुभाव यदि तर्क के स्वरूप को भी ठीक–ठीक निरूपण कर सकें, तो उन्हें यह पता लग सकेगा कि धर्म तथा देवता पर तर्क कुछ काम कर सकता है या नहीं। भला यदि इनसे कोई पूछे कि आपने कैसे अनुमान किया कि गणेश अनार्यों के देवता हैं और आदि भारतवासी अनार्य ही हैं? क्या कोई अव्यभिचरित हेतु इसमें आपके पास है? तो ये लोग सिवा अटकलपच्चू कल्पित मिथ्या इतिहास के क्या बतला सकते हैं? परन्तु यदि इनके भ्रमपूर्ण निराधार आधुनिक इतिहास मान्य हैं, तो प्राचीन आध्यात्मिक गम्भीर भावपूर्ण हमारे इतिहास क्यों मान्य नहीं?

अस्तु, आस्तिकों को पूर्वोक्त प्रमाणों से निर्धारित गणपति तत्त्व का श्रद्धा सहित समस्त कर्मों में आराधन अवश्य करना चाहिए। पारलौकिक तत्त्व निर्धारण में एकमात्र शास्त्र ही आदरणीय है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। — *गीता, १६.२४*

भक्तिसुधा (१९२–२००) से साभार

जप रहस्य

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज

जप साधना अध्यात्म साधन विज्ञानों में एक सुपरिचित साधना है परन्तु इसका निगूढ़ रहस्य साधारण लोगों के लिए दुर्भेद्य प्रहेलिका ही है। वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन आदि सभी साधनाओं में जप का महत्त्व और आवश्यकता मुक्त कण्ठ से घोषित हुई है। सूफी साधक और फकीरों में तथा ख्रीष्टीय कैथौलिक सम्प्रदाय के भक्तों में जप की प्रथा बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित है। योगियों ने जप की महिमा गाई है—वे कहते हैं, यह क्रियायोग के अन्तर्गत स्वाध्याय का ही एक विशेष प्रकार है। अच्छी तरह से विधिपूर्वक अनुष्ठान होने से इसके फलस्वरूप परमात्मा का प्रकाश और इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है तथा और और भी बहुत-से आनुषङ्गिक फल मिलते हैं। जिस नाद अनुसन्धान की महिमा हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी और लययोगी समान रूप से घोषित करते हैं उसे जप की ही एक विशिष्ट अवस्था का नामान्तर माना जा सकता है। प्राचीन शाब्दिकगण इसे 'वाग्योग' कहते थे और '**इयं हि मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः**' (*वाक्यपदीय*)। अर्थात् मुमुक्षु मन के लिए यही सरल राजमार्ग है—कहते हुए इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते थे। मध्ययुग के सन्तगण 'सुरत शब्दयोग' नाम के जिस योग पन्थ का अनुसरण करते थे, वह वाग्योग का ही एक प्रकार मात्र है। योग की कठिन प्रक्रिया, यज्ञ का जटिल विधान, ज्ञानमार्ग की विचार बहुल गम्भीर भावना तथा भावभक्ति का रसमय उल्लास, सभी साधक के लिए सुलभ नहीं परन्तु जप सबके लिए अल्प आयास साध्य है। परन्तु ठीक से किया जाए तो उससे कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि सभी साधनाओं का ही फल मिलता है। सिर्फ इतना ही नहीं, सविशेष भाव की पूर्णता और सभी विशेष का उपशम अर्थात् ब्रह्म का महान् और परम रूप नाद के आश्रय से जापक के लिए जितना सुगम होता है उतना अन्य साधक के लिए नहीं होता।

ग्रन्थकार को ग्रन्थ (जपसूत्रम्) में प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के लिए आनुषङ्गिक तौर पर बहुत-से तत्त्वों की आलोचना करनी पड़ी है। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र किसे कहते हैं, मन्त्र जपरूप क्रिया की निष्पत्ति कैसे होनी चाहिए, उसका चरम लक्ष्य क्या है, ध्वनि (नाद), संख्या और भाव या अर्थ का, अर्थात् वाक्, प्राण और मन का या अग्नि, सूर्य और चन्द्र का स्वरूप और प्रकार भेद क्या हैं, जप का अन्तराय क्या है एवं अन्तराय को दूर करने का उपाय क्या है—इस तरह के बहुत सारे प्रश्नों का समाधान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में दिखाई देता है। दूसरे और तीसरे खण्ड में सप्त-व्याहृति-रहस्य और महामाया तत्त्व के प्रासङ्गिक बहुत विषयों

के साथ विस्तारपूर्वक आलोचित हुआ है। इस आलोचना की तुलना नहीं है। चित् शक्ति केवल चिन्मात्र या प्रकाश मात्र ही नहीं, वह चित् का अपने को विशेष विशेष भाव से ईक्षण का सामर्थ्य है। स्वरूपत: दोनों एक होते हुए भी दोनों में विलक्षणता है। इस विलक्षणता को स्वीकार करके ही दोनों की अद्वयता स्वीकार्य है। विमर्शहीन प्रकाश प्रकाशमान नहीं होता, इसलिए अप्रकाश या असत् कल्प है, परन्तु प्रकाश तो विमर्शहीन नहीं होता। इसलिए प्रकाश की स्व-प्रकाशता और सद्भाव अक्षुण्ण ही रहता है। सत् और असत्, यह विरुद्ध भाव विकल्प मात्र है—निर्विकल्प या अद्वय ही तत्त्वातीत परम तत्त्व है। ग्रन्थकार ने आगम और उपनिषद् का सारांश स्वकीय अनोखी युक्ति और विवेचन सरणी के द्वारा ऐसे मनोज्ञ भाव से और कौशल से स्थापित किया है कि वह मन्द बुद्धि पाठ के लिए भी बोधगम्य हुए बिना नहीं रह सकता। किन्तु, आन्तरिकता और मनोनिवेश जरूरी है।

और एक विषय में दो एक बात बताना उचित प्रतीत होता है। वर्णमातृका के सम्बन्ध में साफ धारणा नहीं रहने से प्राण के स्पन्दन के तत्त्व का निर्णय नहीं किया जा सकता। तन्त्रशास्त्र में इसीलिए मातृका का विवेचन किया गया है। प्राचीनकाल के किसी-किसी मूल आगम ग्रन्थ में वर्णमाला का विचार देखने को मिलता है। अभिनवगुप्त, स्वतन्त्रानन्द नाथ आदि ने भी अपनी-अपनी दृष्टि से इस विषय की आलोचना की है। इस विषय में जपसूत्रकार ने असाधारण अन्तर्दृष्टि तथा समन्वय शक्ति का परिचय दिया है। आशा करते हैं, भविष्य में इस ग्रन्थ की विस्तृत समालोचना के अवसर पर कोई मनीषी तुलनात्मक रीति से प्राचीन भारत के वर्ण विज्ञान के रहस्योद्घाटन की चेष्टा करेंगे। शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध और जैन आगम में तमाम इस विषय के बहुतेरे तथ्य मिल सकते हैं।

(२)

शास्त्र में है, शब्द ब्रह्म में निष्णात होने से परब्रह्म की उपलब्धि होती है। शब्दातीत परम पद के साक्षात्कार के लिए शब्द का आश्रय करके ही शब्द राज्य को भेद करना होता है। समस्त विश्व शब्द से ही उद्भूत एवं शब्द में ही विधृत है। '**शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी**' '**वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्**' इत्यादि शास्त्र वचन से ज्ञात होता है कि शब्द ही जगत् सृष्टि का मूल है। शब्द के बाहर जाने के लिए भी शब्द ही एकमात्र आलम्बन है। इसीलिए जप साधना में शब्द को पकड़कर ही शब्दातीत परब्रह्म के पद में जाने का उपदेश है।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा—चार प्रकार के वाक् की बात शास्त्र में पाई जाती है। वैखरी वाक् शब्द का निम्नतम स्तर है। इसे पकड़कर क्रमश: परा वाक् तक उठने एवं उसके बाद उसको भी पार करने की जरूरत है। वैखरी इन्द्रिय गोचर समग्र स्थूल विश्व में और स्थूल देह में अनन्त प्रकार से स्थान के अनुसार कार्य करता है—'**वैखरी विश्वविग्रहा**'। इसे पार नहीं कर पाने से मनुष्य स्थायी तौर पर बहिर्मुख वृत्ति त्याग कर आन्तर वृत्ति का आश्रय नहीं प्राप्त कर सकता।

आत्मा स्वरूपत: पूर्ण प्रकाशात्मक परमेश्वर रूप है, स्वतन्त्र और भोक्ता होते हुए भी स्वेच्छापूर्वक जीवभाव ग्रहण करने के साथ-साथ उनका स्वातन्त्र्य और भोक्तृभाव लुप्त सा हो जाता है। आत्मा में अखिल शक्ति का अभेद में समन्वय है, इसलिए आत्मा का पूर्णाहन्ता का स्वभाव सिद्ध है। 'अ' से 'ह' तक सारे वर्ण या कला का आपस में या आत्मा के साथ अभिन्न रूप से अखण्ड भाव से स्फुरित होना ही ऐश्वर्य। इन सब अकारादि वर्णों का वाच्य अनुत्तरादि विमर्श आत्मा के अपने विमर्श का ही स्वरूपभूत है। अखण्ड स्थिति में यह सब एक और अभिन्न रूप में ही प्रकाशित होता है। किन्तु आत्मा के स्वेच्छापूर्वक सृष्टि उन्मुख होने से उनके स्वरूपाश्रित अपने अमर्श के लेश रूप में अनुत्तरादि वाचक पूर्वोक्त अकारादि वर्ण उद्भावित होता है। अद्वैत स्थिति में जो सब कला अभिन्न रूप से आन्तर शब्द या स्वभाव रूप में विद्यमान रहती हैं, वे उस स्वरूप में अक्षुण्ण रहकर भी सृष्टि की उन्मेष दशा में मानो अंशत: विभक्त रूप में क्रमश: ब्राह्मी आदि अष्टवर्ग शक्ति अ, आ आदि पचास रुद्र शक्ति के रूप में अवतीर्ण होती है। आगे चलकर उन शक्तियों से पद वाक्य समूह के रूप में असंख्य क्षुद्र शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। अकारादि आत्मा का विमर्श रूप तथा स्व अभिन्न होते हुए भी अज्ञान अवस्था में निज आत्मा से भिन्न प्रतीत होनेके कारण अंश या कला नाम से आख्यात होता है। यही सब मातृका शक्ति है। इनके द्वारा आत्मा का स्वीय ऐश्वर्य या विभव (आचार्य शङ्कर ने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में जिसका उल्लेख 'महाविभूति' के नाम से किया है) विलुप्त सा हो जाता है। कला आत्म स्वरूप से उद्भूत होकर आत्मा के ऐक्य भाव को ढाँके रखती है। उस स्थिति में शिव रूपी आत्मा जीव या पशुरूप में आविर्भूत होती है। यही उनका स्वरूप सङ्कोच या अणु भाव प्राप्ति है। यह अणुरूपी आत्मा तब पूर्व वर्णित अष्टवर्गीय ब्राह्मी आदि शक्ति, अकारादि रुद्रशक्ति और उनसे निकली पदवाक्यादिमय असंख्य क्षुद्र शक्तियों का खिलौना हो जाती है। मातृका सब अणुजीव के प्रति संवेदन से ही अन्त:परामर्शन के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शब्दानुवेध करती है और वर्ग, वर्गी आदि देवताओं के अनुष्ठान द्वारा चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि भाव या वृत्तियों को उद्भावित करती है। इस प्रकार आत्मा का असङ्कुचित पारतन्त्र्यमय चिद्घन रूप आच्छन्न होता है और देहात्म भाव, पारतन्त्र्य तथा पाशबन्धन का सूत्रपात होता है।

मातृका का यह लय—विक्षेपकारक प्रभाव वैखरी वाक् में बहुत स्पष्ट है। चित् के उन्मेष के स्वभाव के कारण साधारण मनुष्य वैखरी भूमि में आबद्ध रहता है—इसका लङ्घन करके मध्यमा में प्रवेश नहीं कर पाता। वैखरी वाक् का कार्यक्षेत्र यद्यपि स्थूल है, मगर उसका प्रभाव अशुद्ध मनोमय स्तर सूक्ष्मभूत और लिङ्ग शरीर में भी दिखाई पड़ता है। काल के आवर्त्तन के पर्याय के रूप में स्थूल तथा सूक्ष्म भाव का उदय-अस्त होता है। एक बार स्थूल से सूक्ष्म की ओर धारा बहती रहती है। स्थूल और सूक्ष्म का इसी प्रकार आवर्त्तन होता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का आवर्त्तन इस महा आवर्त्तन का ही एकदेश मात्र है। गति का यह आवर्त्तन भाव वैखरी भूमि का वैशिष्ट्य है। मलिन वासना के कारण गति की वक्रता होती है, इसलिए निम्न भूमि में आवर्त्तन स्वाभाविक है। इससे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—गुप्त मार्ग का अवलम्बन करके सरल गति की सहायता से ऊपर की ओर क्रम से आरोहण। मध्यमा क्षेत्र से ही इसका आरम्भ होता है।

मध्यमा भूमि को मन्त्रमयी भूमि कहा जाता है; क्योंकि मध्यमा वाक् मन्त्र रूप में ही आत्म प्रकाश करता है। मन का शोधन और उसके फलस्वरूप विज्ञान के द्वार के उन्मोचन का सामर्थ्य क्रमश: इसी स्थान से प्राप्त होता है। मनुष्य के कण्ठ से वैखरी वाक् उठता है—उसके मूलमें मानसिक चिन्ता (चेतन और अवचेतन दोनों ही क्षेत्रों में) और मनोगत भाव या अर्थ जुड़ा रहता है। योगिगण जिस शब्द, अर्थ और ज्ञान के साङ्कर्य की बात कहते हैं, वह इस वैखरी भूमि के शब्द को ही लक्ष्य करके कहते हैं। स्मृति परिशुद्धि के द्वारा साङ्कर्य का परिहार वैखरी से मध्यमा भूमि में प्रवेश का आनुषङ्गिक रूपमात्र है। वाक् के साथ प्राण शक्ति और मन शक्ति अविनाभूत भाव से विद्यमान है तथा प्राण सूत्र को पकड़ कर पृथ्वी आदि पाँच महाभूत का भी सम्बन्ध है। इसके सिवाय चित् का सम्बन्ध तो है ही। लेकिन वैखरी स्तर में यह चिदंश आच्छन्न सा रहता है। साधारणत: इसका आभास नहीं पाया जाता, इसलिए उस समय यह रहते हुए भी नहीं रहने के ही समान है। इसीलिए इस भूमि में मनोमय, प्राणमय और अन्नमय—इन तीन निम्नवर्ती कोषों की ओर आकर्षण रहता है। मन और प्राण की क्रिया समन्वित स्थूल देह के प्रति आकर्षण इसी का नामान्तर है। इसीलिए इस भूमि में देहात्म बोध प्रबल रहता है। विषय के प्रति आसक्ति की तीव्रता के कारण वैराग्य, विवेक आदि सुकुमार भाव अभिभूत रहते हैं। मध्यमा क्षेत्र में नादमय चिद् रश्मि नित्य विराजमान है। ये सब रश्मियाँ वैखरी भूमि में स्वरूपत: नहीं दिखाई देतीं। वैखरी में इनके अवतीर्ण होने से नाना प्रकार के वर्ण भी इन्द्रिय गोचर उज्ज्वल आलोक रूप में प्रतिभा सम्पन्न होते हैं। उसके साथ चिदनुसन्धान नहीं रहता। इसलिए वैखरी में उत्तीर्ण होकर मध्यमा तक नहीं पहुँचने तथा सूक्ष्म चैतन्य का मिश्र अनुभव नहीं पाया जाता।

अतएव, जैसे भी हो, वैखरी से मध्यमा में उठना एकान्त आवश्यक है। इस उत्थान के लिए एक ओर गुरु की शक्ति और दूसरी ओर अपना प्रयत्न अनिवार्य है। इस क्रमिक विकास के कार्य में जप साधन बहुत बड़ा सहायक है। ईश्वर प्रणिधान या भजन, निष्काम कर्मयोग और भौतिक देह तथा चित्त का संस्कारमूलक आत्म शोधन इस उत्थान कार्यमें यथासम्भव सहायता करता है। साधक की दृष्टि इस भूमि में प्रत्यावर्तित होकर अन्तर्मुखी होना आरम्भ करती है। वैखरी भूमि में लक्ष्य रहता है बाहर की ओर और नीचे की ओर अर्थात् मूलाधार की ओर। लेकिन मध्यमा भूमि में वह लक्ष्य बदलता है—उस समय लक्ष्य बाहर या नीचे की ओर न होकर अन्तर या ऊपर की ओर आकृष्ट होता है। मूलाधार के बदले लक्ष्य सहस्रार या गुरुधाम की ओर अथवा अखण्ड नित्य सत्ता की ओर स्थापित होता है। विषयासक्ति वर्जित चित्त उस समय शुद्ध होता है। भावना आदि दूसरे उपाय से भी मध्यमा भूमि में उत्थान हो सकता है मगर अन्य साधना से जप साधना का सौकर्य अधिक है। 'मध्यमा' शब्द का अर्थ है—जो दो छोरों के बीच की हो—एक छोर पर दिव्य पश्यन्ती वाक् और दूसरे छोर पर पाशव वैखरी वाक्—इन दोनों के बीच संयोजक सेतु स्वरूप मध्यमा वाक् क्रियाशील है। इसलिए पशुभाव से दिव्यभाव में आने के लिए मध्य पथ के इस सेतु का सहारा लेना आवश्यक है।

पहले ही कहा जा चुका है कि वैखरी वाक् या लौकिक शब्द में चैतन्य की रश्मि आच्छन्न रहती है, पर मध्यमा वाक् में वह प्रच्छन्न नहीं, प्रस्फुट है। ये रश्मियाँ नादरूपी सूत्र का अवलम्बन करके अनन्त आकाश

में व्याप्त है। इसलिए मूलत: सभी बीजात्मक एवं बीज बिन्दु रूपी केन्द्र में नित्य अवस्थित है। वैखरी वाक् जैसी व्यक्त है, मध्यमा वाक् को वैसी व्यक्त नहीं कही जा सकती। इसलिए अर्थात् मध्यवर्ती होने के नाते उसे व्यक्त और अव्यक्त—उभयात्मक कहा जाता है।

मन्त्र चिद्रश्मिमय है। वैखरी भूमि में चिद्भाव गुप्त होने के कारण और वाक् के असंस्कृत होने के कारण वैखरी वर्ण में मन्त्रमयता स्वीकार नहीं की जाती। लेकिन स्वरूपत: उसमें मन्त्रात्मकता नहीं रहते हुए भी चिद्रश्मि का वाचक होने के नाते वैखरी वर्ण से उद्भूत सभी स्थूल विद्या को भी 'मन्त्र' की आख्या दी जाती है। इस प्रसङ्ग में मीमांसकों का मन्त्रात्मक देवतावाद स्मरणीय है। **'मन्त्राश्चिन्मरीचयः। तद्वाचकत्वाद् वैखरीवर्णविलासभूतानां विद्यानां मननात् त्राणता।'**

मध्यमा के उस पार पश्यन्ती या दिव्य वाक् है। यह एक प्रकार से अव्यक्त है। वाक् से निखिल देवतानिचय प्रकाशित होते हैं—ये सारे देवता सर्वज्ञ है और समग्र विश्व के कार्य में अपने-अपने अधिकार के अनुसार लगे हैं। सिर्फ देवता का प्रकाश पश्यन्ती वाक् का कार्य नहीं—विष्णु का परम पद तक पश्यन्ती भूमि से ही दिखाई पड़ता है। ऋषिगण जिस परम पद का निरन्तर दर्शन करते हैं, वह इसी भूमि से वास्तव में पश्यन्ती वाक् से ही कारणस्थ चैतन्य की स्फूर्ति होती है—यही देवता का स्वरूप है। प्राचीनकाल में मन्त्र साक्षात्कार के फलस्वरूप जो ऋषित्व प्राप्त होता था वह यही पश्यन्ती भूमिलाभ के कारण होता था। यही आत्मा की 'अमृतकला' है—**विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।** पश्यन्ती के स्वरूप का दर्शन होने से अधिकार की निवृत्ति होती है—**तस्यां दृष्टरूपायामधिकारो निवर्तते।**

एक हिसाब से देखने पर पश्यन्ती के बाद वाक् की और कोई उच्चतर अवस्था कल्पनीय नहीं। इसीलिए प्राचीन आचार्यों में से किन्हीं किन्हीं से वाक् को त्रिविध (त्रयी वाक्) भी कहा है। फिर भी स्वीकार करना होगा कि पश्यन्ती के भी एक परा अवस्था है। इसीलिए कोई-कोई नामत: परावाक् को स्वीकार नहीं करते हुए भी कार्यत: **त्रय्या वाचः परं पदम्** कहकर प्रकारान्तर से उसे मानने को विवश हुए हैं।

यह परावाक् चिन्मय और परम अव्यक्त है। इस भूमि में व्यष्टि देवता का प्रकाश नहीं है—समष्टि देवता या ईश्वर चैतन्य में समस्त वाक् की परिसमाप्ति हुई है। यह वाक् सृष्टि के ऊर्ध्वतम शिखर से निम्नतम भूमि तक समान रूप से व्याप्त है। यह ऊर्ध्व सहस्रार की सबसे ऊँची भूमि से उठकर मूलाधार तक व्याप्त है, यह जैसे कहा जा सकता है, वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि यह मूलाधार के नीचे स्थित महाकारण समुद्र में प्रकाशमान अध:सहस्रार से उठकर ऊर्ध्वसहस्रार के द्वादशदल में वाग्भव कूट तक व्याप्त है। कोई-कोई ऐसा कहते भी हैं। वास्तव में ऊर्ध्वसहस्रार के ही भिन्न-भिन्न स्तर में इन तीनों वाक् का उद्भव है—उनमें से एक का (मध्यमा) विस्तार नीचे की ओर हृदय तक, दूसरे का (पश्यन्ती) नाभि या उससे कुछ नीचे तक और तीसरे का (परा) मूलाधार तक। अध:ऊर्ध्व, सर्वदेशव्यापी सत् रूप चैतन्य ही परावाक् का तात्पर्य है। इसी का नाम नित्य अक्षर है।

इस अवस्था के बाद शब्द की और गति नहीं। मध्यमा वाक् से इस अक्षर ब्रह्म तक योगी की गति शब्द ब्रह्म के अन्तर्गत है। अक्षर ब्रह्म का भेद होने से ही परब्रह्म का द्वार खुल जाता है। परब्रह्म शब्दातीत है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—**'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति।'**

जितनी दूर तक शब्द का विकास है, उतनी ही दूर तक आकाश कल्पित होता है। जो नित्य अक्षर अथवा सत् है, उसी का नाम परमाकाश है, जिसे विभिन्न प्रस्थानों में और वैदिक मन्त्रादि में भी परम व्योम के नाम से निर्देश किया गया है। जो शब्दातीत अवस्था है, वहाँ आकाश नहीं है—वहाँ शक्ति और शिव, दो तत्त्व अविभाज्य युग्म रूप में विराजित हैं। युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्ध भाव शिव शक्ति के इस अविनाभाव की ही सूचना करते हैं। समना और उन्मना शक्ति—दोनों ही ब्रह्मशक्ति है—समना शक्ति तत्त्व को आश्रय करके परब्रह्म की इच्छा के अनुसार सृष्टि का विस्तार करती है और उन्मना शिव तत्त्व को आश्रय करके परब्रह्म के विमर्शहीन विश्वातीत दिशा की ओर उन्मुख है। शिव शक्ति अभिन्न है, इसलिए किसी को छोड़कर कोई नहीं रह सकते। इसके बाद और तत्त्व नहीं है। वहीं तत्त्वातीत अद्वैत स्थिति है।

परन्तु इस अद्वैत में भी दो दिशाओं का पता चलता है—एक अखण्ड सच्चिदानन्द का दिशा जो विश्वातीत होने के बावजूद सूक्ष्मतम ध्यानगम्य होने के कारण आरोप दृष्टि से कुछ वर्णनीय है और दूसरी सब प्रकार से निर्विकल्प तथा ध्यान समाधि के अगोचर है। पहली अवस्था में स्वशक्ति परिस्फुट है, दूसरी अवस्था में वह अस्फुट या अव्यक्त है—पर वह नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में ये दोनों दिशाएँ भी अभिन्न हैं। वहाँ निष्कल और सकल में भी भेद की कल्पना का अवकाश नहीं। यही परम अद्वैत रहस्य है। एक ही अखण्ड स्वरूप में विश्व और विश्वातीत, 'अमात्र' और 'अनन्त मात्र' (*माण्डूक्यकारिका* १.२९), निष्कल और सकल, निष्क्रिय और अनन्तक्रिय, क्षर और अक्षर स्वयंप्रकाश अद्वय रूप से विराजते हैं। काल वहाँ कलातीत के साथ एक होकर प्रकाशित है।

(३)

परम पद में प्रवेश करके स्वभाव की धारा प्राप्त करने के लिए जप अन्यतम श्रेष्ठ उपाय है। जप के अनेक भेद हैं, जिनमें बाह्य और आभ्यन्तर—ये दो प्रधान हैं। शास्त्र में जिसे वैखरी जप निर्दिष्ट किया गया है, वही बाहरी जप है—यह प्रारम्भिक क्रिया है। आन्तर जप इससे सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। बाह्य पूजा से जैसे आन्तर पूजा श्रेष्ठ है, वैसे ही बाह्य जप से आन्तर जप श्रेष्ठ है। विधिपूर्वक नाना प्रकार के वर्णों का उच्चारण ही जप का लक्षण है। आचार्यों ने विकल्पात्मक सङ्कल्प कहकर इसका उल्लेख किया है। जो परम पथ और परम पद के अभिलाषी हैं, उनके लिए बाह्य जप से विमुख होकर क्रमशः आन्तर जप में निविष्ट होना जरूरी है।

पहले आरम्भ अवश्य वैखरी से होता है। कर्तृत्व का अभिमान लेकर ही सङ्कल्पपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। कण्ठ जप ही वैखरी जप का स्थूल लक्षण है। वाचिक, उपांशु और मानसिक—वैखरी जप के यही तीन प्रकार के अवान्तर भेद हैं। इन तीनों ही भेदों में 'जप करना' भाव रहता है। मानस कर्म भी जैसे कर्म है, वैसे ही मानस जप भी वास्तव में वैखरी जप के सिवाय और कुछ नहीं। मानस जप करने के मूल में भी कर्त्ता

के रूप में अहं अक्षुण्ण रहता है। यानी मैं जप कर रहा हूँ, यह भाव स्फुट या अस्फुट रूप से मौजूद रहता है। इसके बाद धीरे-धीरे अवस्थान्तर आता है। उस समय कण्ठ रुँध जाता है, प्रयत्न से जप नहीं किया जा सकता। कर्मकारिणी नाड़ियाँ किन्हीं अशों में स्तब्ध हो जाती हैं और तब जप अपने आप भीतर भीतर चलता रहता है। इसे कहते हैं—'जप होना।' यह स्वभाव का जप है। इसके तीन भेद हैं। पहले हृदय में जप, उसके बाद दूसरी अवस्था में नाभि में और अन्त में मूलाधार में होता है। हृदय जप को ही मध्यम मार्ग में प्रवेश जानना चाहिए। इस अवस्था में नाद अपने आप चलता रहता है। मध्यमा में प्रवेश नहीं करने तक सिर्फ बाह्य जप में नाद श्रुति नहीं होती। बाह्य जप में मन्त्र के अक्षरों का अलग-अलग उच्चारण रहता है, इसलिए वह विकल्पमय है, इसलिए वह वास्तविक मन्त्र नहीं। मध्यमा भूमि में जब नाद के साथ मन्त्र स्वभावत: ध्वनित हो उठता है, तभी उसे आन्तर जप समझना चाहिए। इन्द्रिय के अपने-अपने विषय के सभी सञ्चार को रोककर आभ्यन्तर नाद का उच्चारण करना होता है।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जप: प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जप:।।

'परम भाव' की ओर जो पुन: पुन: भावना है, वही आन्तर जप है—नाद की प्रकट अवस्था। हृदय कमल में जो आकाश दिखाई देता है, उपनिषद् में जिसका वर्णन हृदयाकाश कहकर किया गया है, उसमें यानी उस अनाहत प्रदेश में सदा ही भगवती का आनन्दमय स्वरूप नाद रूप में परिणत होकर चारों ओर संसर्पित होता रहता है। आम तौर से हमारा मन बहिर्मुख रहता है, इसलिए नाद का पता नहीं चलता। परन्तु गुरु की कृपा से जब मन अन्तर्मुख होता है, तो स्पष्ट रूप से उसका परिचय मिलता है। उसके प्रभाव से आँखों में आँसू का उद्गम होता है, सारे शरीर में पुलक या रोमाञ्च का सञ्चार होता है तथा दूसरे दूसरे सात्त्विक भाव का उदय होता है।

शुद्ध विद्याभूमि में स्थित विद्येश्वर रूपी श्रीगुरु के मुँह से निकली हुई वाणी मध्यमा वाक् रूप में आत्म-प्रकाश करती है, सहस्रदल कमल के दल से हृदय तक इस वाणी का विस्तार अनुभूत होता है। इस वाणी के प्रभाव से माया का आवरण क्रमश: खुलता रहता है और साधक का अपना स्वरूप सद्विद्या युक्त होकर पुरुष और प्रकृति को एक अभिन्न ज्ञान के अन्तर्गत बोध करने लगता है। इसे नवनाद का प्रथम जानना चाहिए।

विषय को और भी स्पष्ट करके आलोचना करने की चेष्टा कर रहे हैं। महर्षि पतञ्जलि के निर्देशानुसार मन्त्र जप के साथ मन्त्रार्थ की भावना की आवश्यकता है, भावना और जप परस्पर अच्छेद्य सम्बन्ध से जुड़े हैं। आगम के रहस्य विद्गण कहते हैं कि जप के साथ मन्त्र के अवयव समूह में छह शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुव की भावना करनी चाहिए। छह शून्यों में पाँच का वर्ण वैचित्र्यमय अपना-अपना अलग मण्डलाकार रूप है। परन्तु छठा अनुत्तर या महाशून्य है। पहले पाँच शून्य को ठीक निराकार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मन का स्पन्दन जब तक रहता है, तब तक किसी-न-किसी प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म आकार का संस्रव रह ही जाता है। परन्तु छठा शून्य मन के अतीत होने के नाते वास्तव में ही निराकार, महाशून्य है।

प्रणव अथवा बीज मन्त्र के प्रथम तीन अवयव—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के द्योतक हैं, उसके बाद जो सब सूक्ष्मतर अवयव हैं, उनमें से प्रायः सब वास्तव में तुरीय और तुरीयातीत अवस्था के अन्तर्गत हैं। उन अवयवों के नाम ये हैं—**बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना।** पहले तीन अवयवों से इन नौ के सम्मिलित होने से बारह अवयव होते हैं। इनमें से हर दूसरे अवयव को ही शून्य रूप में भावना करनी चाहिए। इसका बड़ा ही गम्भीर रहस्य है, पर यहाँ उसकी चर्चा अनावश्यक है। इस प्रकार दूसरा, चौथा, आठवाँ, दसवाँ और बारहवाँ—ये छह अवयव शून्य पदवाच्य हैं, उनमें पहले पाँच अवान्तर शून्य हैं और छठा महाशून्य। नीचे के पाँच शून्यों में एक क्रम विकास और क्रमलय का भाव अनुभव किया जा सकता है, जिसकी साधन मार्ग में प्रविष्ट व्यक्ति मात्र ही गुरु कृपा से मनोवेश धारण कर सकते हैं।

दस इन्द्रियों द्वारा जिस अवस्था में जागतिक व्यापार निष्पन्न होता है, उसको जाग्रत अवस्था कहते हैं। प्रकाश वस्तुतः इसका कारण है, इसलिए प्रकाश को ही जाग्रत रूप में भावना करने का विधान है। जिस अवस्था में आन्तर चतुर्विधकरण द्वारा व्यवहार निष्पन्न होता है, उसका नाम स्वप्नावस्था है। स्वप्न में विद्यमान अन्तःकरण वृत्ति का लय होने से सभी इन्द्रियों के उपरम रूप जिस अवस्था का उदय होता है, उसका नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति भावना का स्थान भ्रूमध्य स्थित बिन्दु है। इस बिन्दु को हल्लेखा का ऊर्ध्व बिन्दु जानना चाहिए। स्वात्म चैतन्य की अभिव्यक्ति का हेतु नाद का आविर्भाव ही तुरीय का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद—इन तीन मन्त्र वाक्यों में इसकी भावना करना उचित है। तुरीयातीत अवस्था परमानन्द स्वरूप है। मन और वाक् के अतीत होते हुए भी मन और वाक् का आभास देहावस्थान काल में किसी-किसी के रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी और समना के बाद उन्मना एक तुरीयातीत अवस्था व्याप्त है। उन्मना के बाद और किसी प्रकार की अवस्था नहीं है।

मात्राहीन या अभाव शिव स्वरूप आत्मा से चित्कला के आभास बिन्दु या विशुद्ध सत्त्वरूप दर्पण में पड़कर उसमें अवस्थित स्थिरीकृत मात्रा को आघात करता है। मात्रा उस आभास को धारण कर सके तो वह साधक या योगी की योगानुभूति के भूमिरूप में परिगणित होती है—एक मात्रा विभक्त होकर अर्धमात्रा में परिणत होती है। एक मात्रा और अर्धमात्रा का सन्धि स्थान बहुत गुह्य है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है, उसे एक मात्रा माना जाता है। स्थूल लौकिक अनुभूति का आरम्भ उसी एक मात्रा से होता है—मात्रा का आधिक्य जाड्य बुद्धि का कारण है। मन का पूरा क्षेत्र चेतन या बोधमय नहीं है; उसमें अवचेतन का अंश भी है। हमारी स्मृति में जो नाम या शब्द राशि सञ्चित है, वह हमारे अनुभव का ही परिणाम है। यह अनुभव स्थल विशेष में मन की एकाग्रता (कम-से-कम आंशिक) के फलस्वरूप उदित होता है। इसलिए शब्द को स्मरण से वाच्य की स्फूर्ति होती है। चित्त के क्षेत्र में जाग उठता है। वाचक के स्मरण से वाच्य की स्फूर्ति होती है। साधक का कर्त्तव्य है—साधना का उद्देश्य मन को एकाग्र करना या केन्द्र में स्थापित करना अर्थात् एक मात्रा में अवस्थित रखना। समाधि आदि अभ्यास का वास्तविक उद्देश्य भी यही

है। साधारणतया मन एक मात्रा में नहीं रहता। विक्षिप्त या क्षिप्त अवस्था में चञ्चलता के कारण मात्रा में बाहुल्य होता है। गूढ़ अवस्था की आलोचना की यहाँ जरूरत नहीं। मन के उत्थित होकर एक मात्रा में स्थित होने से ऊपर से उस पर गुरु कृपा रूपी चिद्रश्मि का संपात होता है। उसके फलस्वरूप एक मात्रा अपने स्थान में एक मात्रा के रूप में अक्षुण्ण रहकर भी अतीत में अर्धमात्रा आदि रूप में परिणत होती है।

यहाँ से सीमाहीन अनन्त की ओर गति की सूचना होती है। दिव्य अनुभूति का आरम्भ होता है। चित् किरण के संपात की वृद्धि के अनुसार मात्रा का भग्नांश बढ़ता रहता है, अर्थात् मात्रांश क्रमशः क्षुद्र से क्षुद्रतर होता रहता है और प्रतिफलित चैतन्य क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल तथा परिस्फुट होता रहता है।

जिस स्थान पर चिद्रश्मि का संपात होता है उसे एक मात्रा और अर्धमात्रा की सन्धि माना जाता है— ऊपर से एक मात्रा में उस रश्मि के जाने से ऊपर की ओर एक मात्रा का टूटना शुरू होता है, यद्यपि नीचे की ओर एक मात्रा बरकरार ही रहती है।

यह एक मात्रा ही समग्र विश्व का मध्य बिन्दु है। लौकिक विशाल जगत् इसी एक मात्रा में उपसंहृत होता है और यहीं से प्रबुद्ध होकर दसों दिशाओं में स्तर स्तर में बिखर जाता है। एक लिहाज से इस मात्रा को सुषुप्ति का समानधर्मा कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से ही अर्द्ध मात्रा आदि को तुरीय तथा अतितूर्य अवस्था के आभास का ज्ञापक माना जाता है।

मन की मात्रा जितनी ही फैलती है, मन का अंश उतना ही क्षुद्रतर होता है। चिदालोक उतना ही उज्ज्वल होता है। अर्द्धमात्रा आदि में प्रतिफलित जो चैतन्य है, वही मन्त्र है। जो चित्त उसका आधार है, उसे भी मन्त्र कहते हैं।

पहले जिस बिन्दु के बारे में कहा है, वही मात्रा से मात्राहीन में जाने का द्वार है। यहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकाकार होते हैं तथा निरवलम्ब भाव से आरम्भ होते हैं। साथ ही मात्रा भङ्ग के फलस्वरूप अर्द्धमात्रा का उदय होता है। कहा जा सकता है कि इसी भूमि से ईश्वर भाव की पूर्व सूचना होती है। यह ज्योतिर्मय एकाकारता ही शून्य है। यहाँ भेद बोध बिलकुल नहीं जाता, क्रमशः अपगत होता है। वास्तव में द्वितीय शून्य होते हुए भी यह जागतिक अवस्था के ऊपर है, यही प्रथम शून्य है। बिन्दु के सहस्रार में उठने के रास्ते में कपाल में जो सोमरस दिखता है, वही अर्द्धचन्द्र है, जिसके भीतर त्रिविध वर्णमाला (सौम्य, सौर और आग्नेय) चिद्बीज रूप में सहस्रार के दलों में प्रकाश पाता है। कपाल के ऊपर, किन्तु ब्रह्मरन्ध्र के नीचे, त्रिकोण में रोधिनी की अवस्थिति है। यह ब्रह्मा आदि कारण पञ्चक को अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच जगत्पति को ऊर्ध्व गति से निवृत्त करती है, इसलिए इसका नाम रोधिनी है। कोई-कोई इसे निरोधिका भी कहते हैं। रोधिनी तक ही बिन्दु का आवरण है। इसे भी शून्य रूप में सोचना चाहिए। यहाँ दिक् और काल का पार्थक्य याद नहीं रहता। इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र के सम्मुख नाद स्थान है। यह मन्त्र महेश्वर रूपी महापुरुषों द्वारा परिवृत्त है। नाद के अन्तर्गत भुवन पञ्चक के बीच की शक्ति ऊर्ध्वगा नाम से प्रसिद्ध है।

यहीं से शुद्ध चिद्बोध का सूत्रपात होता है। ब्रह्मरन्ध्र में नादान्त है। यह भी शून्यरूप में भावनीय है। कहा जा सकता है, नाद या चित् यहाँ सद्भाव में प्ररूढ़ है। ब्रह्मरन्ध्र है सुषुम्ना के ऊपर। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर शक्ति स्थान।यही ऊर्ध्व कुण्डली प्रसुप्त भुजङ्गाकार तथा ऊर्णाचक्षु जैसी प्रभावान् है। अन-उन्मिषित समग्र विश्व इसी के गर्भ में अवस्थित है—इसीलिए यह विश्वाधार है। सारे तत्त्व और भुवन इन्हीं को आश्रय करके विद्यमान रहते हैं। यहाँ एक अव्यक्त आनन्द का अनुभव होता है।

इसके बाद व्यापिनी का अधिकार है। वास्तव में शक्ति के केन्द्र में स्थित कला ही व्यापिनी के नाम से परिचित है। परन्तु शक्ति से व्यापिनी पृथक् है। पृथ्वी तक समस्त शक्ति तत्त्व का ही प्रपञ्च है। एक हिसाब से देखने पर शक्ति तत्त्व ही अनाश्रित भुवन है, जिसमें व्यापिनी के बीच शिव तत्त्व है। अनाश्रित भुवन के चारों ओर व्यापिनी, व्योमात्मिका, अनन्ता और अनाथा नामक शक्ति का अवस्थान है—बीच में अनाश्रिता शक्ति विराजमान है। कहना फिजूल है कि व्यापिनी भी शून्य रूप में कल्पनीय है। किन्हीं किन्हीं ने व्यापिनी को ही महाशून्य मान लिया है। लेकिन वास्तव में यह महाशून्य नहीं, इसके बाद भी शून्य है। यहाँ साकार और निराकार का भेद गायब है। यहाँ की अनुभूति एक अद्वय आत्मानुभूति के अङ्गीभूत है। व्यापिनी के बाद व्यापिनी पद अवस्थित है, अनाश्रित भुवन के ऊपर समना। यह ब्रह्मविल के बाहर और अतीत मन का स्थान है। यहाँ मन नहीं है, मगर मन है। नादान्त से ही इस अतीत मन की सूचना मिलती है। सूक्ष्म समष्टि मन नाद में ही परिव्याप्त होता है—उसके बाद ही अतिमानस है। समना ही सभी कारण कर्त्तृभूता महेश्वर की पराशक्ति है। पूर्ण ब्रह्म की ईक्षा शक्ति अवतरण के समय समना रूप में उतरकर समष्टि में सञ्चारित होती है। परमेश्वर सृष्टि आदि पाँच प्रकार के कृत्य समना में आरूढ़ होकर ही करते हैं। समना की दूसरी दिशा उन्मना है—यह अतीत मन से भी परे है। विकल्प रहित केवल स्वरूप में आत्मा के अवस्थान का बोध यहाँ होता है। यह अमेय और अनिर्देश्य है। नव नाद में यही नवम नाद है। जिस नाद समूह की सूचना बिन्दु में होती है, उन्मना में उनका अन्त है। यही वास्तविक महाशून्य है। श्रीमाता की करुणा के बिना इसका भेद नहीं किया जा सकता। इसके बाद अब शब्द ब्रह्म नहीं अथवा शब्द ब्रह्म ही परब्रह्म या अद्वैत आत्म स्वरूप में स्वयं प्रकाश है।

जप की आनुषङ्गिक भावना से संसृष्ट छह शून्य और पाँच अवस्थाओं का थोड़ा-बहुत आभास दिया गया। अब सात विषुव की बात यथासम्भव सङ्क्षेप में लिखने की कोशिश कर रहे हैं। विषुव सप्तक का प्रचलित नाम इस प्रकार है—**प्राण-विषुव, मन्त्र-विषुव, नाड़ी-विषुव, प्रशान्त-विषुव, शक्ति-विषुव, काल-विषुव और तत्त्व-विषुव**। प्राण, आत्मा और मन के पारस्परिक योग को प्राण-विषुव कहते हैं। मन्त्र-विषुव का तात्पर्य है अभिव्यज्यमान नाद को जापक की अपनी आत्मा मानकर भावना करना। मूलमन्त्र के द्वारा छह चक्र और द्वादश ग्रन्थि का क्रमशः भेद करने से मध्य नाड़ी में नाद स्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक बीज शिखरवर्ती नाद के उच्चारित होने से नाड़ी विषुवरूप स्पर्श उद्भूत होता है। नादान्त तक मन्त्रावयव की शक्ति से लय भावना प्रशान्त विषुव नाम से अभिहित होती है। शक्ति मध्यगत नाद के समना तक ही काल की सीमा है। वास्तव में नाद काल की सीमा के बाद भी है। कालातीत उन्मना तक नाद के

चिन्तन को काल विषुव कहते हैं। उन्मना में काल नहीं है, पर वह भी परम तत्त्व नहीं है। काल विषुव के बाद तत्त्वविषुव अङ्गीकृत होता है। नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है, लेकिन जब तक नाद का वास्तविक अन्त नहीं होता, तब तक तत्त्व बोध नहीं होता। नादान्त तो दूर की बात, शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता। शाक्त योगिगण उन्मना को भी नाद का अन्त नहीं कबूल करते। उन्मना के ऊपर उन्मना को भेद करने के साथ-साथ लीन होता है। वैसे में तत्त्व बोध या आत्म साक्षात्कार स्वभावत: होता है। इसलिए तत्त्व विषुव को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति स्थान कहना सङ्गत है।

इसके बाद ही परम पद। यह छह शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुव के कोलाहल से परे है—विश्व की परम विश्रान्ति और परमानन्द स्वरूप। यही परमशिव की अवस्था है। तान्त्रिक योग में परमनिष्णात योगिगण कहते हैं, उन्मना तक सभी मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चारित होने से नाद का अन्त और तत्त्व ज्ञान का उदय होकर परम पद की प्राप्ति होती है। मन्त्र जप के साथ मन्त्र के अर्थ की भावना आवश्यक है—यह ब्रात पहले कही गई है। अर्थज्ञान के बिना अर्थ भावना हो नहीं सकती। शास्त्र में बहुत प्रकार के मन्त्रार्थ का विवरण मिलता है। उनमें से **भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ**—ये कई प्रधान हैं। किसी-किसी मत से १६ प्रकार के अर्थ का वर्णन भी मिलता है। मन्त्र के अवयवभूत अक्षर का अर्थ ही भावार्थ है। सर्वकारण कारण पूर्ण परमेश्वर ही सभी मन्त्रों के मूल गुरु हैं। उनके मुख से स्वीय मन्त्र का सम्प्रदायार्थ ज्ञान है। परमेश्वर, गुरु और अपनी आत्मा के ऐक्य का अनुसन्धान ही कौलिकार्थ है। मूलाधार स्थित कुण्डलीरूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है—ऐसी भावना का नाम रहस्यार्थ है। निष्कल, अणु से अणुतर और महान् से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत, परम तत्त्व से प्रकाश के आनन्द रूप में विश्वातीत और विश्वमय अपने गुरु प्रबोधित निर्मल स्वभाव स्वकीय आत्मा का ऐक्य में अनुप्रवेश महातत्त्वार्थ है। इन सब अर्थ के विज्ञान के फलस्वरूप सम्यक् रूप से विकल्प जाल निवृत्त होता है।

इस देहरूप विश्व में अध:-ऊर्ध्व रूप में तीन स्तर हैं। पहला स्थूल या स-कल, दूसरा सूक्ष्म या स-कल-निष्कल और तीसरा कारण या निष्कल है। पहला स्तर अकुल से आज्ञाचक्र तक फैला है। सुषुम्ना नाड़ी के मूल का ऊपरी मुक्त रक्तवर्ण सहस्रदल कमल ही अकुल पदवाच्य है। सुषुम्ना के शिखर का अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदल भी एक प्रकार से वही है। दोनों के बीच में सुषुम्ना के मध्य में विभिन्न प्रकार का आधार कमल गुँथा हुआ है। दूसरे का विस्तार आज्ञा के ऊपर बिन्दु से उन्मना तक है।

तीसरा महाबिन्दु है, जो उन्मना के अतीत और देश काल द्वारा अपरिच्छिन्न है। इस त्रिभूमिक देहरूप विश्व में जो अधिष्ठाता होकर विराजते हैं, वह पूर्ण ब्रह्मरूपी आत्मा है। वह विश्वात्मक होते हुए भी विश्वातीत और विश्वातीत होते हुए भी विश्वात्मक है। जप साधना में परम सिद्धि इस आत्म स्वरूप में सिद्धि लाभ के सिवाय और कुछ नहीं।

तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त, पृ. ३३९-३५२ से साभार।

भारतीय आस्था और भगवती गङ्गा

प्रो. युगल किशोर मिश्र

भारतीय आर्ष चिन्तन एवं मान्यता में भगवती गङ्गा का अत्यन्त श्रद्धास्पद स्थान है। वेद से लेकर समस्त संस्कृत वाङ्मय में ऋषियों, आचार्यों, सन्तों एवं कवियों ने सर्वोच्च आदर भाव से न केवल भगवती गङ्गा की स्तुति की है अपितु उनके अलौकिक महत्त्व एवं दिव्य सामर्थ्य को रेखाङ्कित किया है। *ऋग्वेद* के दशम मण्डल के मन्त्र (इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति...) में सर्वप्रथम गङ्गा का नाम प्रस्तुत होना इस बात का सङ्केत है कि गङ्गा के आधिदैविक स्वरूप के साथ-साथ उनका आधिभौतिक स्वरूप जो नदी के रूप में है, वह नितान्त श्रद्धेय एवं अनितरसाधारण है।

संस्कृत वाङ्मय के आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने 'गङ्गाष्टकम्' में अपने अन्तस्तल के भावों को मार्मिक ढङ्ग से प्रकट करते हुए भगवती गङ्गा के प्रति कहा है—

मातः शैलसुतासपत्नि वसुधाशृङ्गारहारावलि
स्वर्गारोहणवैजयन्ति भवतीं भागीरथीं प्रार्थये।
त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिबतस्त्वद्वीचिषु प्रेङ्खत-
स्त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः॥

अर्थात् 'हे गिरिनन्दिनी की भगिनि माँ गङ्गे! आप भूदेवी पृथ्वी के वक्षस्थल पर शोभायमान मौक्तिकहार हैं तथा प्राणियों के स्वर्गारोहण की अद्वितीय विजय पताका हैं। अतः मैं (वाल्मीकि) आपसे यह याचना करता हूँ कि आपके तट पर वास करते हुए, आपके अमृतसम जल को पीते हुए, आपके धवल लहरों की गोद में स्नान के व्याज से क्रीड़ा करते हुए, आपके भवतारण नाम को जपते हुए तथा आपके मनोरम जलमय विग्रह को निहारते हुए मेरा यह पाञ्चभौतिक शरीर छूटे।'

महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रचनामें गङ्गाजल की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा कि—

(१) गङ्गाजल सामान्य जल न होकर अमृतोपम दैवी जल है।

(२) गङ्गाजल में प्राणियों के बाह्य एवं आभ्यन्तर कल्मषों (पापों) को धो देने की अपूर्व शक्ति है।

(३) गङ्गाजल समस्त ऐश्वर्यों के साथ-साथ मोक्ष प्रदान करने की दिव्य शक्ति से समन्वित है। अत: वे कहते हैं—

अभिनवविसवल्ली पादपद्मस्य विष्णो–
र्मदनमथनमौलेर्मालतीपुष्पमाला।
जयति जयपताका काप्यसौ मोक्षलक्ष्म्या:
क्षपितकलिकलङ्का जाह्नवी न: पुनातु।।

गङ्गाजल की उपर्युक्त अनितरसाधारण विशेषताओं का रहस्य बतलाते हुए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि गङ्गा का जल व्यापनशील विष्णु अर्थात् द्युलोक से च्युत होकर आता है अत: यह 'मुरारिचरणच्युतम्' है। उसके बाद वह व्योमकेश (शिव) के विशाल जटाजूट (अन्तरिक्ष) में ठहरता है अत: 'त्रिपुरारिशिरश्चारि' है। इसके अनन्तर भगवती गङ्गा का जल पृथ्वी के सर्वोच्च एवं श्रेष्ठ भाग हिमालय पर अवतरित होता है और वहाँ के दिव्य औषधीय गुणों को समेट कर धराधाम पर बहते हुए सागर की गुहा में प्रविष्ट होता है। अत: यह जल आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक सन्तापों एवं कल्मषों (पापों) को नष्ट करने में समर्थ है तथा अलौकिक शुचिता को प्रदान करता है।

भगवती गङ्गा के लिए 'त्रिपथगा' विशेषण विशेषतया प्रयुक्त होता है। महर्षि व्यास *मत्स्य पुराण* में गङ्गा के 'त्रिपथगा' नाम का मर्म समझाते हुए कहते हैं कि—

क्षितौ तारयते मर्त्यान्नागाँस्तारयतेऽप्यध:।
दिवि तारयते देवाँस्तस्मात्त्रिपथगा स्मृता।।

अर्थात् पृथ्वी लोक में मनुष्यों को, पाताल लोक में पातालचारी नागों एवं अन्य जीवों को तथा देवलोक में देवताओं को भगवती गङ्गा तारती हैं इसलिए यह 'त्रिपथगा' कही जाती हैं।

महर्षि व्यास ने गङ्गा के वैशिष्ट्य प्रसङ्ग में यह भी कहा कि पृथ्वी के जिस भाग पर गङ्गा बहती है वह भाग 'सिद्धक्षेत्र' बन जाता है—

यत्र गङ्गा महाभागा बहुतीर्थास्तपोधना:।
सिद्ध–क्षेत्रं हि तज्ज्ञेयं नात्र कार्या विचारणा।।

महान् दार्शनिक आचार्य श्री शङ्करभगवत्पाद ने स्वविरचित 'गङ्गाष्टकम्' में महर्षि वाल्मीकि एवं महर्षि व्यास के उपर्युक्त कथन को स्वीकार करते हुए अपने शब्दों में कहा कि—

भगवति! तव तीरे नीर–मात्राशनोऽहम्
विगत–विषय–तृष्ण: कृष्णमाराधयामि।।
सकल–कलुष भङ्गे! स्वर्ग–सोपान–सङ्गे!
तरल–तर–तरङ्गे! देवि गङ्गे! प्रसीद।।

हे भगवति गङ्गे! मैं आपके तट पर (सिद्ध क्षेत्र होने के कारण) केवल गङ्गाजल को पीता हुआ विषय तृष्णाओं को त्याग कर भगवदाराधन में लीन हूँ। आप समस्त पापों को नाश करने वाली, परम पद स्वर्ग को पहुँचाने वाली सीढ़ी हो अतः अत्यन्त पावन चञ्चल लहरों वाली हे गङ्गे! आप मुझ पर प्रसन्न हों (मुझे मोक्ष प्रदान करें)।

आचार्य शङ्कर 'गङ्गा स्तवन' में यह भी कहते हैं कि—सृष्टि के पूर्व यह गङ्गा ईश्वर में लीन निराकार स्वरूपा थी। सृष्टि के पश्चात् इस जगत् के देव, असुर तथा मानवों द्वारा अपने भ्रान्तिजन्य पापों से निर्मित दुःख सागर में डूबते हुए देखकर माता गङ्गा को दया आयी और वे जगत् का उद्धार करने के लिए जल स्वरूप (नदी) होकर स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित हो गयीं—

निराकारासृष्टेरभवदियमीशात्मनि पुरा, जगद्दृष्ट्वादेवासुरनरमुखभ्रान्तिनिविडम्।
निमग्नं दुःखाब्धौ दुरितरचिते वीक्ष्य कृपया, सुमद्धर्तुं नीराकृतिमिहविधायाविरभवत्।।

रामभक्त मारुतिनन्दन श्री हनुमान् जी ने भी भक्ति भाव से ओत-प्रोत होकर भगवती गङ्गा की दिव्यता का वर्णन एवं स्तवन स्वविरचित श्लोकों में किया है। एक श्लोक में वे कहते हैं कि—

वरं त्वदीये पुलिने पुलिन्दा मन्दाकिनिक्षालितपापकन्दाः।
मन्दारमालामलमौलिमाला न लोकपाला न च भूमिपालाः।।

हे मन्दाकिनि! आपके तट पर रहने के कारण नष्ट हो गये हैं पाप जिनके, ऐसे किरात भी अच्छे हैं, किन्तु तुम्हारे तट पर न रहने वाले मन्दारमाला से युक्त रत्नमाला गले में पहनने वाले इन्द्रादि लोकपाल तथा राजा भी श्रेष्ठ भाग्यशाली नहीं हैं।

संस्कृत के महनीय कवि पण्डितराज जगन्नाथ की '*गङ्गालहरी*' एक अनुपम रचना है जिसमें भगवती गङ्गा के दिव्य सौन्दर्य एवं अद्वितीय वैभव का वर्णन है। पण्डितराज जगन्नाथ का मानना है कि—सृष्टि के समस्त कार्यों से विरत होकर भगवान् ब्रह्मा अखण्ड योग समाधि में लीन हो जाएँ, संसार के पालन कर्त्ता भगवान् विष्णु शेषशय्या पर अनन्तकाल तक सुखपूर्वक सोते रहे, प्राणियों को अभयदान एवं मोक्ष प्रदान करने वाले भगवान् शङ्कर भी अपने कार्य से विरत होकर सदैव नृत्य में ही संलग्न रहें एवं मनुष्यजन भी अपने पूर्व जन्म एवं इस जन्म के पापों को नष्ट करने एवं पुण्य लाभ प्राप्त करने के लिए तप, दान, यज्ञ, प्रायश्चित्तादि कर्म छोड़ दें तो भी कोई हानि नहीं होने वाली है यदि सर्वमनोरथदायिका भगवती गङ्गा इस धराधाम पर बहती रहें। अर्थात् एकमात्र भगवती गङ्गा ही प्राणियों के दुरितों को नष्ट कर भोग एवं मोक्ष प्रदान करने के लिए पर्याप्त हैं—

विधत्तां निःशङ्कं निरवधिसमाधिर्विधिरहो,
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः,
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती।।

मध्यकाल के प्रसिद्ध कवि रसखान ने पण्डितराज जगन्नाथ के उपर्युक्त भावों से दो कदम आगे बढ़कर दृढ़ विश्वासपूर्वक यह घोषणा कर दी कि माँ गङ्गा के पृथ्वी पर रहते हुए प्राणियों को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है केवल गङ्गा के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास के साथ, सदाचारपूर्वक गङ्गा स्नान करते हुए अपना जीवन निर्वाह करते रहने पर ही भोग एवं मोक्ष मानव को अनायास प्राप्त हो जाएंगे। वे कहते हैं—

वैद की औषधि खाऊँ न कछू न करौं व्रत-सञ्जम री! सुनु मौसे।
तेरो इ पानी पियौं 'रसखानि' सञ्जीवनी लाभ लहौं सुख तौरो।।
एरी सुधामयी भागीरथी! कोउ पथ्य-कुपथ्य करै तऊ पोसे।
आक धतूरे चबात फिरैं विष खात फिरैं शिव तेरे भरोसे।।

किसी कालखण्ड में पण्डितराज जगन्नाथ ने वाराणसी में बहती हुई गङ्गा के सौन्दर्य को एवं निर्मल अविरल जल प्रवाह को निहारते हुए प्रसन्नता के उद्वेग से यह कहा था कि—

विशालाभ्यामाभ्यां किमिह नयनाभ्यां खलु फलं
न याभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनुः।
अयं हि न्यक्कारो जननि मनुजस्य श्रवणयो-
र्ययोर्नान्तर्यातस्तव लहरिलीलाकलकलः।।

अर्थात् हे माता, इस संसार में हम प्राणियों की इन बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों की क्या सार्थकता है यदि इन्होंने परम रमणीय तेरे जल प्रवाह रूप मनोरम शरीर का दर्शन न किया हो। हे जननि गङ्गे, हम प्राणियों के उन कानों को भी धिक्कार है जिनके भीतर परम पुनीत तेरी निर्मल-शीतल-चञ्चल वेग शील लहरों की कल कल ध्वनि न गयी हो।

जिस पतितपावनी गङ्गा ने वैदिक काल से लेकर आज तक मानव के अति मलिन पापों को धोकर उसे पुण्यात्मा बनाया हो, उसे अनन्त सुख समृद्धि प्रदान कर ऐश्वर्यशाली बनाया हो तथा परमपद प्राप्त कराया हो, उसी गङ्गा माता को स्वार्थ एवं लोभ से वशीभूत होकर मानव ने बड़े-बड़े बाँधों की जंजीरों से बाँध कर कैद कर दिया है तथा अपने विवेकशून्य कार्यों एवं कुकृत्यों से भगवती गङ्गा को मृतप्राय कर दिया है। आज 'निर्मलगङ्गा अविरलगङ्गा' के उद्घोष को पुनः सन्तों, महात्माओं एवं विवेकशील जनता ने उठाया है। मैं समसामयिक सन्दर्भ में पण्डितराज जगन्नाथ के उपरि वर्णित कथ्य को इस रूप में कहना चाहूँगा—हम मानवों की इन बड़ी-बड़ी विशाल सुन्दर आँखों का क्या प्रयोजन है यदि हम पुराने कालवाली निर्मल एवं अविरल गङ्गा जल प्रवाह का काशी में दर्शन न कर सकें तथा हम काशीवासी मनुष्यों के इन कानों को भी धिक्कार है जिनके भीतर निर्मल जल वाली अविरल गङ्गा के चञ्चल जल लहरियों की कल कल ध्वनि न सुनाई पड़े।

पूर्व कुलपति,
राजस्थानसंस्कृत विश्वविद्यालय,
अध्यक्ष, वेद विभाग, सं.सं. विश्वविद्यालय, वाराणसी।

करपात्रस्वामिभाष्य में 'श्री' का अर्थवैशिष्ट्य

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र

श्रीविद्या-सम्प्रदाय के अप्रतिम आचार्य श्री करपात्री जी महाराज सनातन धर्म के सर्वमान्य उपदेष्टा के रूप में प्रथित हैं। वेदादिशास्त्रों के निगूढ़ रहस्यों को स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य एवं अन्य ग्रन्थों में उद्घाटित किया है। ऋग्वेदीय श्रीसूक्त का वैदिक, पौराणिक तथा आगमोक्त विधानों में अतिशय महत्त्व है। श्रीविद्या की परम्परा में भी श्रीसूक्त अपरिहार्य माहात्म्यशाली है। इस दृष्टि से स्वामी करपात्री जी महाराज ने श्रीसूक्त का अत्यन्त प्रौढ़ तथा विशद भाष्य किया है। श्रीसूक्त-भाष्य में स्वामी जी ने 'श्री' अभिधान का अनेक दृष्टियों से अनुशीलन कर इसके रहस्य को प्रकाशित किया है। श्रीसूक्त के अनेक मन्त्रों में यह विचार किया गया है, परन्तु यहाँ मात्र तृतीय मन्त्र के '**श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवीर्जुषताम्**' इस उत्तरार्द्ध में पूज्य स्वामी जी ने श्री एवं देवी पदों का जो विश्लेषण किया है उसका भाव प्रस्तुत है।

'श्री' पद के अर्थावबोधन के लिए पूज्य स्वामी जी ने मुख्यत: श्रि सेवने तथा शृ हिंसायाम् इन दो धातुओं का विश्लेषण किया है तथा 'देवी' पद के अर्थानुशीलन हेतु दिव् धातु के क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति तथा गति अर्थों को पाणिनीय अनुशासन के अनुसार विवेचित किया है।

इन दोनों अभिधानों का अर्थ वैशिष्ट्य इस प्रकार है—

१. **श्रयति भगवन्तमिति श्री:**—स्वाधिकृत निरङ्कुश अनन्त ऐश्वर्य की स्वामिनी रहने पर भी चेतन भक्तजनों के रक्षण की वात्सल्य लालसा ने भगवान् के आश्रित रहने के कारण यह श्री है।

२. **देवयति कान्तमिति देवी**—अपने भक्तों के दोष रूपी अलक्ष्मी को दूर करने की इच्छा से भगवान् को क्रीड़ा में लगाये रखने के कारण यह देवी है।

३. **देवनशीला देवी**—नित्य स्वप्रकाश ब्रह्मात्मसंवित्स्वरूपिणी द्योतनात्मिका है।

४. **दीव्यतीति देवी**—अविद्या और उसके कार्य रूपी प्रपञ्च को ब्रह्म विद्या के रूप में जीत लेने के कारण यह देवी है।

५. **दीव्यति विजिगीषतीति देवी**—अनेक रूपों से महिष, शुम्भ, निशुम्भ, रक्तबीज, मधुकैटभ आदि असुरों को जीतने के कारण देवी है।

६. **दीव्यति क्रीडत इति देवी**—अनन्त ब्रह्माण्ड की निर्माण लीला के द्वारा क्रीड़ा करने के कारण देवी है।

७. श्रीयते या सा श्रीः—प्राणियों के द्वारा शरण देने वाली के रूप में आश्रयणीय सेवनीय होने कारण यह श्री है।

८. क्रीडित्रीत्वेन देवी—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा लय लीला की क्रीड़ा के कारण देवी कही जाती है।

९. विजीगीषावत्त्वेन देवी—भक्तों की अविद्या-अज्ञान को विजित करने के कारण देवी है।

१०. द्योतनाद् देवी—स्वयं प्रकाशस्वरूपा परमात्मरूपिणी होने के कारण देवी है।

११. श्रयते सेवत इति श्रीः—हरि का श्रयण अर्थात् सेवन करने के कारण श्री है।

१२. श्रयते भजत इति श्रीः—सर्वथा अपेक्षा रहित होकर स्वानपेक्ष भी हरि का श्रयण भजन करने के कारण भक्तिरूपा श्री है।

श्रीमद्भागवत (३/२९/११) में भक्ति का स्वरूप यही बतलाया गया है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।।

अर्थात् जिस प्रकार निर्मल स्वच्छ बहता हुआ गङ्गा जल का अविच्छिन्न प्रवाह समुद्र की ओर सदैव गतिशील रहता है उसी प्रकार ह्लादिनी शक्ति से संवलित भगवान् के गुणों के श्रवण से द्रवीभूत निर्मल चित्त की गति भगवान् की ओर ही सर्वदा प्रवाहित होने लगती है। इसी स्थिति को भक्ति कहा गया है। आराधनारूपा श्रीराधा भी हरि का आश्रयण सेवन करती हैं।

१३. श्रीयते सेव्यते सर्वैरिति श्रीः—सब प्राणियों के द्वारा आश्रयणीय सेवनीय होने के कारण ये श्री भगवती हैं। *श्रीमद्भागवत* में यह निरूपित है कि ब्रह्मादि देवता भी जिसकी कृपा दृष्टि की प्राप्ति के लिए अनन्तकाल तक तपस्या करते हैं। अतः अन्य प्राणियों की तो स्थिति ही क्या है, यह कैमुतिकन्याय से सिद्ध होता है। *श्रीमद्भागवत* का वचन है—

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तप :समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः। इत्यादि (भा. १/१६/३२)

१४. श्रीयते सर्वैगुणैरिति श्रीः—सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, सौरस्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि समस्त गुणों के द्वारा आश्रयणीय होने के कारण भी ये श्री हैं। इन उत्कृष्ट गुणों की अधिष्ठात्री महाशक्तियाँ दिव्य विग्रह धारण करती हुई पराम्बा राजराजेश्वरी भगवती श्रीदेवी का दास्य भाव से आश्रय लेती हैं।

१५. शृणोत्यभिप्रायानिति श्रीः—भक्तों के समस्त अभिप्रायों को अत्यन्त वात्सल्य से श्रवणपूर्वक पूर्ण करने के कारण यह 'श्री' भगवती है। *श्रीमद्भागवत* में भी यह उपदिष्ट है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।। (५/१८/१२)

१६. शरण्येति श्रीः—भगवान् से भी अधिक परम वात्सल्य से अकारण करुणा करने के कारण 'शरणं श्रय' अर्थात् 'मेरी शरण में आओ' इत्यादि उक्तियों की अपेक्षा न करते हुए रक्षा करने वाली की भाँति जिसकी गोद में आश्रय पाकर समस्त प्राणी बालक की भाँति निश्चिन्त हो जाते हैं वह श्री भगवती हैं।

१७. शृणोति दोषानिति श्रीः—जो भक्त के समस्त दोषों, पापों को विनष्ट कर देती है वह श्री है।

१८. ऐश्वर्यातियेन श्रीः—लोकोत्तर परिवार की अधिष्ठात्री होने के कारण भगवती का अभिधान 'श्री' है। चतुश्लोकी में यह वर्णन है—

कान्तस्ते पुरुषोत्तमः फणिपतिः शय्यासनं वाहनम्,
वेदात्मा विहगेश्वरो यवनिका माया जगन्मोहिनी।
ब्रह्मेशादिसुरव्रजः सदयितस्त्वद्दासदासीगणः,
श्रीरित्येव च नाम ते भगवति ब्रूमः कथं त्वां वयम्।।

इस प्रकार लोकातिशायी परिकर भगवती के लोकोत्तर 'श्री' अभिधान को मण्डित करता है। हम लोगों की वाणी इसका समाख्यान करने में भी असमर्थ है।

१९. आश्रीयते हरिणेति श्रीः—जिसका आश्रय विष्णु द्वारा, सीता रूप से श्रीराम द्वारा, राधा रूप से श्रीकृष्ण द्वारा भी ग्रहण किया जाता है वह भगवती श्री है। जिनके लिए समुद्र मन्थन, समुद्र बन्धन आदि कार्य सम्पन्न हुए।

२०. श्रीणाति जगदिति श्रीः—अपने लोकातिशायी गुणों से सम्पूर्ण जगत् का अभिवर्धन करने के कारण भगवती श्री हैं। प्राचीन आचार्यों की उक्ति भी है—

श्रितास्यन्यैः सर्वैः श्रयसि रमणं संश्रितगिरः,
शृणोषि प्रेयांसं श्रितजनवचः श्रावयसि च।
शृणास्येतद्दोषान् जननि निखिलान् सर्वजगतीं,
गुणैः श्रीणासि त्वं तदिह भवतीं श्रीरिति विदुः।।

इस प्रकार निगमागमसम्प्रदायाचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने परमाराध्या श्रीविद्याधिष्ठात्री भगवती के 'श्री' अभिधान का विविध भावों से वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है। भगवती पराम्बा 'नामपारायणप्रीता' कही गयी हैं। अतः उनके 'श्री' अभिधान का अर्थान्वाख्यान साधकजनों के लिए पुण्याधायक होगा।

लेखो गुरुमुखावाप्तविषयस्य निरूपकः।
लघुर्यागानन्दनाथनिबद्धो गुरवेऽर्पितः।।

संस्कृत विभाग, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

करपात्री जी के द्वारा प्रतिपादित शक्ति का अनिर्वचनीय स्वरूप

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् परमगुरु अनन्तश्री विभूषित यतिचक्रचूडामणि श्रीहरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी 'षोडशानन्दनाथ' ने अपने ग्रन्थ *भक्तिसुधा* (पृ. १५४-१५८) में शक्ति का अनिर्वचनीय स्वरूप अपनी वैदुष्यपूर्ण युक्तियों से जिन प्रकार सिद्ध किया है। उसे उनकी शब्दों में यथासम्भव प्रस्तुत किया जा रहा है।

श्रीभगवती ने संक्षेप में श्री विष्णु के लिये *देवीभागवत* का उपदेश किया है।

सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।

अर्थात् यह सब कुछ सनातन मैं ही हूँ। मेरे से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। वेदान्तवेद्य परमतत्त्व ही शिव तथा *स्कन्दपुराण* के शिवतत्त्व, *रामायण* के राम, *विष्णुपुराण* के विष्णु एवं वहीं सूर्य्य, शक्ति आदिरूप से प्रकट होता है। श्री हिमालय पर कृपा करके करुणामयी, कल्याणमयी अम्बा ने ही अपने दिव्यस्वरूप का उपदेश दिया है—

अहमेवास पूर्वं तु नान्यत्किञ्चिन्नगाधिप।
तदात्मरूपं चित्संवित् परब्रह्मैकनामकम्।।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम्।
तस्य काचित् स्वतः सिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता।। *देवीभागवत,* ७.३२.२-३

नगाधिप! मैं ही एक सब कुछ हूँ। मेरा अनन्त अखण्ड ब्राह्मरूप अप्रतर्क्य एवं अनिर्देश्य है, अनौपम्य और अनामय है। उसी सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्म की एक स्वतःसिद्धा शक्ति है, वही माया नाम से प्रख्यात है। जैसे मृत्तिका में घटोत्पादिनी शक्ति और वह्नि में दाहिकाशक्ति होती है, वैसे ही ब्रह्म में अनन्तकोटिब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति है। वही निखिल विश्व की जननी है। इस पक्ष में जगत् भ्रान्तिमय या अध्यस्त कैसे है, प्रपञ्च की स्वरूपसत्ता न होने से आरोप्यानुभव से आदिम संस्कार नहीं बन सकेगा फिर भ्रान्ति या अध्यास कैसे सम्भव होगा इत्यादि शङ्काओं को स्थान ही नहीं रहता, क्योंकि शक्ति द्वारा ब्रह्म की ही प्रपञ्चरूप से अभिव्यक्ति हो जायगी फिर अद्वैत सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं होगा। कारण कि पारमार्थिक सद्रूप परमात्मा ही अद्वितीय है। प्रपञ्च और उसकी जननी-शक्ति तो सत्, असत् और सदसद्, इन तीनों से विलक्षण

है। अतएव अनिर्वचनीया है। जैसे वह्निशक्ति वह्नि से विलक्षण है, वैसे ही सत् की शक्ति सत् से विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीय है:—

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
एतद्विलक्षणा काचिद् वस्तुसत्तास्ति सर्वदा।। *देवीभागवत,* ७.३२.४

ब्रह्मज्ञान द्वारा इसका बोध हो जाता है। इसलिये ब्रह्म की तरह वह नित्य सत् नहीं है, परन्तु उसी के कार्य्यभूत प्रपञ्च से समस्त व्यवहार बनता है, इसलिये ब्रह्म की तरह वह असत् भी नहीं और परस्पर विरोध होने के कारण दोनों की स्थिति असम्भव है, अतः सदसद् उभय स्वरूप भी नहीं है। अनिर्वचनीय वस्तुरूप मायाशक्ति मोक्ष पर्यन्त विद्यमान रहती है। जैसे पावक में उष्णता, सूर्य्य में किरण और चन्द्रमा में चन्द्रिका है, वैसे ही ब्रह्मात्मिका चिच्छक्तिरूपा भगवती में सहजसिद्धा मायाशक्ति है। सुषुप्ति में जैसे जीवों के व्यवहार विलीन रहते हैं, वैसे ही प्रलयकाल में माया के भीतर ही समस्त जीव और उनके कर्म और समस्त प्रपञ्च अभेदभाव से उसी माया में विलीन रहता है। उसी शक्ति के ही अनिर्वचनीय सम्बन्ध से निर्गुण-निर्लिप्त चिच्छक्ति जगत् का बीज अर्थात् कारणरूप भी हो जाती है। उस परमतत्त्व के आश्रित रहने वाली मायाशक्ति उसे आवृत्त करती है, इसलिये ही ब्रह्मशक्ति सदोष समझी जाती है। मायाशक्ति में भी विद्या और अविद्या यह दो भेद रहते हैं। उनमें विद्या विशुद्धा सत्त्वात्मिका होने से स्वाश्रय को व्यामोहित नहीं करती। अतः वह निर्दोष है। तम से अभिभूत सत्त्वयुक्त अविद्या स्वाश्रय की व्यामोहकारिणी है। इसीलिये ब्रह्म सदोष है। चैतन्य के सम्बन्ध से तद्गत चिदाभास ही चेतनप्रधान होने के कारण निमित्तकर्ता है और उसी शक्ति का प्रपञ्चरूप में परिणाम होता है, अतः वही समवायकारण भी है। कुछ लोग उस मायाशक्ति को ही तप कहते हैं। परमेश्वर उसी से विश्व का निर्माण करते हैं—

सा तपस्तप्त्वेदं सर्वं समसृजत्।

और कोई शाखी उसे ही तम कहते हैं।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे।

तम अज्ञान से ही आवृत होकर परम-तत्व प्रपञ्चरूप में प्रतीत होता है। उसे ही कोई ज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति एवं अजाशक्ति भी कहते हैं। उसी को कोई विमर्श, कोई अविद्या भी कहा करते हैं।

केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे।
ज्ञानं मायां प्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्।।
विमर्श इति तां प्राहुः शैवशास्त्रविशारदाः।
अविद्यामितरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिन्तकाः।। *देवीभागवत,* ७.३२.९-१०

ब्रह्म निर्विकार साक्षी दृक् से दृश्य है, अतः जड़ है। अधिष्ठानज्ञान से उसका नाश हो जाता है, अतः असती है। एवं द्वैतजाल चैतन्य दृश्य नहीं है। यदि उसमें भी दृश्यता हो तो वह भी जड़ ही हो जायेगा, अतः स्वप्रकाश चैतन्य दूसरे में नहीं प्रकाशित होता।

तस्या जडत्वं दृश्यत्वाज्ज्ञाननाशात्ततोऽसती।
चैतन्यस्य न दृश्यत्वं दृश्यत्वे जडमेव तत्।। *देवीभागवत,* ७.३२.८-९

वह चैतन्य जैसे जड़ से नहीं प्रकाशित होता वैसे ही दूसरे चैतन्य में भी उसका प्रकाश नहीं होता। कारण, ऐसा मानने में अनवस्था होना अनिवार्य है। साथ ही वह अपने से भी अपना प्रकाश नहीं करता क्योंकि ऐसी स्थिति में उसमें कर्तृत्व और उसी में कर्मत्व होगा, जो सङ्गत नहीं है। पर समवेतक्रियाफलशाली कर्म हुआ करता है। अपने आप कर्त्ता और अपने आप कर्म यह पक्ष अत्यन्त विरुद्ध है, अतः दीपक के समान यह स्वयं प्रकाशमान होकर दूसरों का प्रकाशक है, इसलिये स्वयं प्रकाश कहलाता है—

स्वप्रकाशश्च चैतन्यं न परेण प्रकाशितम्।
अनवस्थादोषसत्त्वान्न स्वेनापि प्रकाशितम्।।
कर्मकर्तृविरोधः स्यात् तस्मात्तद्दीपवत्स्वयम्।
प्रकाशमानमन्येषां भासकं विद्धि पर्वत।। *देवीभागवत,* ७.३२.१२-१४

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति में दृश्य का व्यभिचार होता है, अर्थात् जागर का दृश्य स्वप्न में नहीं और स्वप्न का जागर में नहीं और इन दोनों का सुषुप्ति में नहीं, सुषुप्ति का आलम्ब जागर-स्वप्न में नहीं। परन्तु इन तीनों अवस्थाओं का अखण्ड बोध या संविद् सर्वभासक रूप में नित्य अव्यभिचारी है। संविद् या बोध का व्यभिचार या अभाव कभी भी अनुभव में न आता है, न आ सकता है। यदि बोध के भी अभाव का अनुभव माना जाय तो वहाँ भी वह अभाव जिस साक्षी से अनुभूत होता है, वह बोधरूप साक्षी जब विद्यमान ही है तब बाधा या संविद् का अभाव कैसे कहा जा सकता है? बिना बोध या संविद् के भाव-अभाव दोनों ही नहीं सिद्ध हो सकते। अतः संविद् का अभाव सिद्ध करने के लिये भी संविद्रूप साक्षी की आवश्यकता रहती ही है इसलिये सर्वभासक स्वप्रकाश होने से चैतन्यरूप है, अबाध्य अव्यभिचारी होने से सत्य एवं नित्य है। मैं कभी न होऊँ ऐसा नहीं किन्तु सदा रहूँ ही। इस तरह प्राणियों के निरतिशय निरुपाधिक पर प्रेम का आस्पद होने से वह परमानन्दरूप है। साथ ही जब उससे भिन्न सार ही प्रपञ्च मिथ्या ही है, तब कोई भी उसमें तात्त्विक सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः उसमें अङ्गता भी स्थित ही है। जब स्वप्रकाश संविद्रूपा भगवती से भिन्न माया और उसका कार्य सभी सत्, असत् और सदसत् विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या है, तब फिर परिच्छेदक (भेदक या मापक) देश-काल-वस्तु न होने से ही अपरिच्छिन्नता (त्रिविधपरिच्छेदशून्यता) भी सहज में ही सिद्ध हो जाती है। यह जो सर्वदृश्यभासक बोध सिद्ध किया गया है, यह आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप ही है। धर्म मानने पर आत्मा उसका दृश्य होने से आत्मा में जड़ता आ जायगी।

तच्च ज्ञानं नात्मधर्मे धर्मत्वे जडतात्मनः। *देवीभागवत,* ७.३२.१९

यदि ज्ञान स्वप्रकाश आत्मा का धर्म है तो उसकी आवश्यकता ही क्या रहती है? यदि ज्ञान को स्वप्रकाश और आत्मा को जड़ मानें सो भी ठीक नहीं, कारण कि स्वप्रकाश ज्ञान जड़ आत्मा का ही शेष या अङ्ग हो सकता है। लोक में जड़ ही चेतन का शेष होता है यही प्रसिद्ध है। जैसे बोध या ज्ञान जड़रूप आत्मा का धर्म नहीं बन सकता वैसे ही वह चिद्बोधरूप आत्मा का भी धर्म नहीं हो सकता। कारण, चित् का चित् से भेद ही नहीं हो सकता, फिर भेद बिना चित्, चित् का धर्मधर्मिभाव कैसे बन सकेगा? इसलिये आत्मा ज्ञानरूप एवं सुखस्वरूप है। यह अवश्य समझने की बात है कि जो ज्ञान और सुख नाम से प्रसिद्ध है वह अनित्य और विनाशी अन्तःकरण का वृत्तिरूप है। उसी ज्ञानाभास या सुखाभास में अविवेकियों को ज्ञान या सुख का भ्रम होता है। परन्तु इन विनाशी वृत्तिरूप ज्ञान और सुखों का प्रकाशक स्वप्रकाश अखण्ड बोध या ज्ञान ही असली ज्ञान और सुख है। 'ज्ञान अखण्ड एक सीतावर।' 'सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।'

चिद्धर्मत्वं चितो नास्ति चितश्चिन्नैव भिद्यते। *देवीभागवत,* ७.३२.२०

वह बोध ही अत्यन्त अबाध्य होने से पारमार्थिक सत्य है और वही सब कुछ है। अतः पूर्ण और असङ्ग एवं द्वैतजाल से विवर्जित है। वही काम, कर्मादि के सहित अपनी माया से ही पूर्व संस्कार के अनुसार कालकर्म के विपाक से सृष्टि की इच्छा वाला हो जाता है। जैसे कोई प्राणी पूर्व-संस्कार से अबुद्धिपूर्वक ही नींद से उठ बैठता है वैसे ही आत्मा की यह सृष्टि काल-कर्म संस्कार से अबुद्धिपूर्वक ही होती है। यही जगत् बीजभूत प्रकृति से विशिष्ट मेरा स्वरूप अव्याकृत या माया शबल कहलाता है, वही समस्त कारणों का कारण है और समस्त तत्त्वों का आदिभूत तत्त्व है, वही माया शक्तियुक्त सच्चिदानन्द कहलाता है, वही समस्त कर्मों का घनीभूतस्वरूप ज्ञानों और इच्छाओं का आश्रय है, वही आदितत्त्व ह्रींकार, ॐकार आदि का वाच्य तत्त्व है।

सर्वकर्मघनीभूतम् इच्छाज्ञानक्रियाश्रयम्।
ह्रींकारमन्त्रवाच्यं तदादितत्त्वं तदुच्यते।। *देवीभागवत,* ७.३२.२६

उसी मायाशक्तिविशिष्ट अव्याकृत से शब्द-तन्मात्रस्वरूप सूक्ष्माकाश उत्पन्न हुआ। उससे स्पर्शात्मक वायु और वायु से रूपतन्मात्रा-स्वरूप तेज, और उससे रसात्मक जल, जल से गन्धात्मिका पृथ्वी उत्पन्न होती है। इन्हीं अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चभूतों के सात्त्विक अंश से अन्तःकरण और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, राजस अंश से प्राण और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। वह सब मिलकर व्यापक लिङ्गशरीर ही आत्मा का सूक्ष्म देह कहा जाता है। लिङ्ग और पूर्वोक्त अव्याकृत ही आत्मा का कारणदेह है। भूतों के तामस अंश से पञ्चीकरण मार्ग से स्थूल प्रपञ्च और विराट् की उत्पत्ति होती है। भूतों के समष्टि सात्त्विक अंश से उत्पन्न अन्तःकरण के वृत्तिभेद से चार रूप बन जाते हैं। संकल्प-विकल्प करते समय मन, निश्चय करते हुए बुद्धि, स्मरण करते समय चित्त और अहंकारकाल में अहंकार कहा जाता है। प्रकृति में भी विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया और मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या कहलाती है,

स्वाश्रय को न मोहित करने वाली विद्या में प्रतिबिम्बसमन्वित अधिष्ठान ईश्वर कहा जाता है, वह स्वाश्रय के ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ सर्वानुग्राहक है। अविद्या में प्रतिबिम्बसमन्वित अधिष्ठान अल्पज्ञ एवं दुःखादि का आश्रयभूत जीव है। दोनों ही स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन देहों से युक्त हैं। व्यष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण जीव के हैं और समष्टि तीनों देह ईश्वर के हैं। व्यष्टि में कारण-देहाभिमानी प्राज्ञ, सूक्ष्म-शरीराभिमानी तैजस और स्थूल-शरीराभिमानी विश्व कहलाता है। समष्टि-देहों के अभिमानी अव्याकृत, हिरण्यगर्भ एवं विराट् कहलाते हैं। ईश्वर ही नाना भागों के आश्रयभूत विश्व का निर्माण करते हैं। भगवती ने कहा—मेरी मायाशक्ति से ही समस्त चराचर विश्व बनता है। वह माया भी मुझसे पृथक् नहीं है। व्यवहारदृष्टि से जो माया और अविद्या कहलाती है वह परमार्थतः मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं हैं—

व्यवहारदृशा येयं विद्यामायेति विश्रुता।
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्।। *देवीभागवत,* ७.३२.२

स्वप्रकाशरूपा भगवती ही निखिल प्रपञ्च का निर्माण करके उसमें वही प्रवेश करती है। जिस तरह एक ही आकाश घटाकाश और महाकाश के रूप में प्रकट होता है, उसी तरह स्वप्रकाश चैतन्य ही विद्याशक्तिविशिष्ट ईश्वर, अविद्या या अन्तःकरण-विशिष्ट होकर जीवरूप में व्यक्त होता है। उन्हीं अनेक उपाधिभेदों से ही जीवों में नानात्व और गमनागमन सब कुछ उत्पन्न होता है। जैसे सूर्य्य भगवान् उच्चावच अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रकाश करते हैं, परन्तु उनके गुणों या दोषों से वे युक्त नहीं होते, वैसे ही अखण्डबोधरूप सर्वान्तरात्मा सभी दृश्य का प्रकाशन करते हैं, परन्तु उनके गुणों और दोषों में वे लिप्त नहीं होते। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब, या रज्जु में सर्प, वैसे ही शुद्ध प्रकाशस्वरूप परमतत्त्व में समस्त प्रकाश्य परिकल्पित है। अतएव ईश्वर, सूत्रात्मा, विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गौरी, ब्राह्मी, वैष्णवी, सूर्य्य, तारक, तारकेश, स्त्री, पुमान्, नपुंसक एवं शुभ, अशुभ समस्त प्रपञ्च ही परात्परपूर्णतम परम तत्त्व ही का स्वरूप है। जो भी कुछ देखा या सुना जाता है उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर एक वही निर्विकार पूर्ण चिति ही विद्यमान है। सबको सत्तास्फूर्ति प्रदान करने वाली चिति से विमुक्त होकर जो कुछ भी है वह शून्य है, वन्ध्यापुत्र के समान है। जैसे सर्प, धारा, माला आदि भेदों में एक रज्जु ही अनेकधा भासित होती है, वैसे ही एक चिद्रूप आत्मा ही अनेक रूप में भासित होता है। जैसे अधिष्ठान के बिना कल्पित पदार्थ की सत्ता और स्फूर्ति नहीं टिक सकती उसी तरह सच्चित् स्वरूप परमतत्त्व के बिना कल्पित विश्व में सत्ता और स्फूर्ति नहीं रहती।

यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याहं सर्वदा स्थिता।।
न तदस्ति मया त्यक्तं वस्तु किञ्चिच्चराचरम्।
यद्यस्ति चेतच्छून्यं वन्ध्यापुत्रोपमं हि तत्।। *देवीभागवत,* ७.३३.१६-१७

इस प्रकार शक्ति का अनिर्वचनीयत्व युक्तियों से सुतरां सिद्ध होता है। भगवती के स्वयं के वचन तो प्रमाणभूत है ही। वस्तुतः शक्ति अचिन्त्य, अव्यक्त, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्दस्वरूप महाचिति भगवती ही है, जिसे आत्मा, पुरुष, ब्रह्म आदि शब्दों से दार्शनिक व्यवहार करते हैं। माया शक्ति का आश्रय करके वही त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम, गणपति, सूर्य आदि रूप में प्रकट होती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण त्रिशरीर रूप त्रिपुर के भीतर रहने वाली सर्वसाक्षिणी चिति ही त्रिपुरसुन्दरी है। उसी मायाविशिष्ट शक्ति के जैसे राम, कृष्ण आदि अन्य अवतार होते हैं वैसे ही महालक्ष्मी, महासरस्वती, महागौरी आदि अवतार होते हैं। उसी की उपासना का तत्र तत्र स्थानों में विधान है।

सन्दर्भ :

१. *भक्तिसुधा* श्रीहरिहरानन्दसरस्वती (करपात्री जी), श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कोलकाता, १९८०

२. देवीभागवत, ७.३२-३३ अध्याय।

भारतीयदर्शन प्राध्यापक
दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर-३०२००४

सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्

दीपककुमार शर्मा

आराध्या परमा शक्तिः, सर्वैरपि सुरासुरैः।
मातुः परतरं किञ्चिन्नाधिकं भुवनत्रये।।

समस्त चराचर जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय की कारणभूत जो शक्ति है उसी शक्ति-विशेष को वैष्णव भगवान् विष्णु के रूप में, शैव शिव के रूप में और शाक्त दुर्गा के रूप में मानते हैं। तदनुसार उपासना करते हैं, वस्तुतः वह शक्ति एक ही है इसमें पृथक्त्व नहीं है। ठीक वैसे ही उसी प्रकार जिस प्रकार गङ्गा जी एक ही हैं, और किनारे अनेक हैं। उसी शक्ति को पुरुषरूप में चित् और स्त्रीरूप में चिति कहा जाता है। *ऋग्वेद* में आया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

अर्थात् वह (परमेश्वर) एक है उसे विप्रों ने इन्द्र, मित्र, सूर्य, वरुण, अग्नि, दिव्यसुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा (वायु) इस प्रकार बहुत नामों से कहा है।

भारतीय दर्शन में शक्ति का स्वरूप बहुत ही दिव्य बहुत ही उदात्त है। शक्ति ही वह परमतत्त्व है जिससे इस मिथ्या-जगत् की उत्पत्ति हुई है। जड़-प्रकृति के पूर्व भी शक्ति थी और शक्ति की इच्छा से ही भौतिक जगत् की सृष्टि हुई। योगी उमानन्दनाथ ने पराशक्ति का निम्नलिखित शब्दों में अतीव सुन्दर वर्णन किया है—

यस्यादृष्टो नैव भूमण्डलांशो, यस्यादासो विद्यते न क्षितीशः।
यस्याज्ञातं नैव शास्त्रं किमन्यैः, यस्याकारः सा पराशक्तिरेव।। – *नित्योत्सव* १

पराशक्ति वह शक्ति है जिसके लिए संसार का कोई भी भाग अदृष्ट नहीं है, कोई ऐसा राजा नहीं जो उसका सेवक न हो। कोई ऐसा शास्त्र नहीं जिससे वह अनभिज्ञ हो। प्रायः विद्वानों का यह मत है कि तन्त्रवाद का आधार शिव और शक्ति का द्वैत ही है। वह सांख्य के पुरुष-प्रकृति से भिन्न नहीं है। *शक्तिसंगमतन्त्र* में

जिसमें शक्ति का निरूपण विलक्षण ढङ्ग से किया गया है, वह शक्ति को शिव से भी परे मानता है, दूसरे शब्दों में शक्ति को ही शिव का कारण मानता है–

तं विलोक्य महेशानि, सृष्ट्युत्पादनकारणात्।
आदिनाथं मानसिकं, स्वभर्त्तारं प्रकल्पयेत्।।

हे महेशानि! यह (अपना रूप) देखकर उस शक्ति ने अपने पति आदिनाथ को जगत् की सृष्टि के लिए अपने मन से उत्पन्न किया। ऋग्वेदोक्त देवीसूक्तानुसार भगवती पराम्बा ही ब्रह्मा की भी सृजन करने वाली है—

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोताम् द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि।। – *वाग्सूक्त*

''मैं जगत् पिता (हिरण्यगर्भ) को प्रसव करती हूँ इसके ऊपर आनन्दमयकोश-मध्यस्थ विज्ञानमय कोश में मेरा कारण – शरीर अवस्थित है। मैं समग्र भुवन में अनुप्रविष्ट होकर स्थित हूँ। वह सामने स्वर्गलोक है उसे भी मैं अपने शरीर के द्वारा स्पर्श कर रही हूँ।'' भगवती शक्ति ही सोम, विश्वकर्मा, सूर्य को ऐश्वर्यादि षड्गुणों से युक्त धारण करती है तथा जो देवों के उद्देश्य से प्रचुर हवियुक्त सोमयागादि का अनुष्ठान करते हैं उन यजमानों का यज्ञफल भी धारण करती है—

अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारं पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।।

उपनिषदों में भी शक्तितत्त्व का निरूपण बड़ा सुन्दर दृष्टिगोचर होता है। इसमें भी भगवती शक्ति को ही समस्त ब्रह्माण्ड की बीजस्वरूपा (आधारस्वरूपा) माना है तथा अनेकानेक विशेषण रूपी आभूषणों से अलंकृत किया है—नृसिंह उत्तरतापिनी उपनिषद् में अद्वय, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आत्मा, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अव्यक्त, अगन्तव्य, अबोद्धव्य, अनिन्द्रिय, अविद्या, अलक्षण, असङ्ग, अभय, अविक्रिय, असत्त्व, अरजस्क आदि। *कठोपनिषद्* में '**सा काष्ठा सा परा गतिः**' कहा गया है अर्थात् जिस प्रकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है तथैव सम्पूर्ण जगत् चिति-शक्ति से व्याप्त है।

भावों की अनेकतावश शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न ज्ञात होती है, जिनका न तो जनसामान्य चिन्तन कर सकता है, न ही वे हमारे ज्ञान का विषय हो सकती हैं। जैसे अग्नि की उष्णता और जल की शीतलता आदि अग्नि उष्ण क्यों है? कहाँ से इसमें उष्णता आयी इत्यादि चिन्तन हमारे विचार के परे है। चिन्तन करने पर भी उष्णता हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। *विष्णुपुराण* में आया है—

शक्तयस्सर्वभावनामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता। — *विष्णुपुराण*
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। – *श्वेताश्वतरोपनिषद्* ६/८

इत्यादि श्रुतिवाक्यों से परमात्मा की नानाविध शक्तियाँ कही गई हैं।

इन शक्तियों की भिन्नता का समाधान *अहिर्बुध्न्यसंहिता* में मिलता है। इसके तृतीयाध्याय में देवर्षि नारद महर्षि अहिर्बुध्न्य से प्रश्न करते हैं–

तस्य शक्तिश्च का नाम।

अर्थात् उस परब्रह्म की शक्ति का क्या नाम है ? तब अहिर्बुध्न्य जी उत्तर देते हैं–

शक्तयस्सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिताः।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः।।
सूक्ष्मावस्थां हि सा तेषां सर्वम्भवानुगामिनी।
इदन्तया विधातुं सा न निषेद्धुं च शक्यते।।
सर्वैरननुयोज्या हि शक्तयो भवगोचराः।
एवं भगवतस्तस्य परस्य ब्रह्मणो मुने।।

अर्थात् समस्त भावों की अपृथक्स्थित शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। पदार्थों की शक्तियाँ कार्य के द्वारा दृष्टिगोचर होती हैं, स्वरूप के द्वारा नहीं। यह समस्त भावों में रहने वाली सूक्ष्मावस्था है। उसको 'यह है वह शक्ति' (इदमित्थम्) भी नहीं कह सकते एवं न ही निषेध कर सकते। भावों में रहने वाली शक्तियाँ तर्क का विषय नहीं है। जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ चाँदनी सभी भावों में रहती है उसी प्रकार परमात्मा की शक्ति भी सभी भावों में रहती है तथा भावाभावरूप पदार्थों में रहने वाली वह शक्ति ही समस्त कार्यों को करती है। इस प्रकार सामान्य निरूपण के पश्चात्—

जगत्त्वया लक्ष्यमाणा सा लक्ष्मीरिति गीयते।
श्रयन्ती वैष्णवं भावं सा श्रीरिति निगद्यते।।

उसी पराशक्ति को श्री, पद्मा, कमला इत्यादि नाम निर्वचनपूर्वक बताकर उसी को विष्णुशक्ति बताया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह उक्त शक्ति महालक्ष्मी है जिसमें नामों से भावों भिन्नतावश उपासना में भी भिन्नता आ जाती है।

निष्कर्षत: वह पराशक्ति ही सर्वत्र विद्यमान होकर अपनी इच्छानुसार ब्रह्माण्ड का संचालन कर रही है। यदि वह जरा-सा रूठ जाये तो सारा कार्य स्वत: अवरुद्ध हो जायेगा। इसी भाव को आद्यशङ्कराचार्य *सौन्दर्यलहरी* में प्रकट करते हैं—

शिव: शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुम्।

अर्थात् उस शक्ति के बिना ईश्वर भी स्वकार्य पूर्ण नहीं कर सकते। अत: व्यक्ति को निरन्तर उस पराम्बा, पराशक्ति का स्मरण पूजन-अर्चन द्वारा सान्निध्य हेतु निरन्तर प्रयासरत होना चाहिए।

प्रात: स्मरणीय परमपूज्य गुरुदेव श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी प्रसङ्गवश कहते थे कि उपासक का परम लक्ष्य होता है इष्टसान्निध्य। इस हेतु उपास्य से वह अपने जीवन के सम्बन्ध जोड़ता है। यथा-परमात्मा को गोपियों ने सख्यभाव से, गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्वामित्व भाव से, भक्तराज प्रह्लाद ने कण-कण में व्याप्त सर्वान्तर्यामी परम शक्तिमान् भाव से भजा था। अत: उससे जैसा सम्बन्ध जोड़ो वह आत्मसात् कर लेता है। इसी प्रकार इष्ट की मातृभाव से साधना करने पर शीघ्र ही वह अपना सान्निध्य प्रदान करता है एवं वात्सल्यमयी दृष्टि द्वारा हमको आप्लावित करता है। अत: व्यक्ति को सकाम या निष्काम भाव से उसकी प्राप्ति हेतु सतत साधना करती चाहिए।

श्रीदत्तात्रेयानन्दपाठशाला
श्रीविद्यासाधनापीठ, गणेशबाग,
नगवा, वाराणसी-२२१००५

भारतीय भाषाओं के तान्त्रिक वाङ्मय का आकलन : एक शोध विद्वान् की लेखनी से

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

भारतीय वाङ्मय में सर्वाधिक प्राचीन और महनीय साहित्य है वैदिक साहित्य जिसका प्रभाव देश की संस्कृति और विभिन्न भाषाओं के वाङ्मय पर बहुत गहरा और व्यापक है। इस तथ्य का आकलन पिछले दिनों बड़ी मात्रा में हुआ ही है। वेदों को निगम कहा जाता है। निगम के समान ही महत्त्व रखने वाली परम्परा है आगम की, जिसका अर्थ मोटे रूप में 'शास्त्र' होता है किन्तु सूक्ष्मत: यह तन्त्र, चिन्तन और साधना के वाङ्मय का वाचक है। आगम की यह परम्परा भी उतनी ही महनीय है। इस परम्परा में तन्त्र का स्थान सर्वोपरि है जिसका साहित्य और जिसकी साधना (आचार) सदियों से पूरे देश में चली आ रही है। आश्चर्य की बात यह है कि यह साहित्य और साधना इतनी गोपनीय रखी जाती रही है कि इनके साहित्य का प्रकाशन तो दूर, इनके लेखकों, देवी-देवताओं और उपासना प्रकारों के नाम तक छिपाये जाते रहने के कारण पिछले दिनों तक अज्ञात हो गये थे। इसके बावजूद तान्त्रिक मान्यताओं,परम्पराओं औरआचार दृष्टि का प्रभाव भी हमारी संस्कृति और दृष्टिकोण पर इतना गहन और व्यापक है कि आज उसका आकलन बहुमूल्य सिद्ध हो सकता है। ऐसे आकलन पिछले दिनों होने भी लगे हैं। शैवागम, शाक्ततन्त्र तथा मध्यकालीन रहस्यात्मक साधना के ग्रन्थ प्राय: सभी संस्कृत में निबद्ध हैं, कुछ अपभ्रंश में जिन पर अनुसन्धानात्मक अध्ययन बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए हैं जिसमें से बहुत से प्रकाशित भी हो गये हैं। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. गोपीनाथ कविराज का नाम इस प्रसङ्ग में अग्रणी पङ्क्ति में आता है जिन्होंने शाक्ततन्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखकर भारतीय भाषाओं के साहित्य को समृद्ध किया है। बङ्गला भाषा में भी कुछ ग्रन्थ निकले हैं किन्तु कविराज जी के ग्रन्थ मुख्यत: हिन्दी में हैं।

ऐसे एक अन्य विद्वान् थे कानपुर विश्वविद्यालय के कुलपति रहे **स्व. डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय**। चाहे आज हिन्दी आलोचना के एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में डॉ. हिन्दी जगत में प्रसिद्ध हो गये हों, किन्तु उनका अवदान इस दृष्टि से भी उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है कि वे उन इने-गिने विद्वानों में हैं जिन्होंने इस तान्त्रिक परम्परा का अध्ययन किया, उसके व्यापक प्रभावों को (साहित्य और संस्कृति दोनों पर) तलाश कर

उन पर विस्तार से लिखा भी, जिसे प्रतिष्ठित संस्थानों ने प्रकाशित किया। उनका शोधप्रबन्ध '*सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव*' विषय पर है (आगरा विश्वविद्यालय, पीएच.डी.) उन्होंने '*हिन्दी की तान्त्रिक पृष्ठभूमि*' पर भी ग्रन्थ लिखा है (१९६३)। ऐसे अध्ययनों की आज आवश्यकता है जो भारतीय भाषाओं के उन विद्वानों के लेखन का आकलन करें जिन्होंने तान्त्रिक वाङ्मय का अध्ययन किया है। इस प्रकार के अध्ययन के कारण हिन्दी के प्रारम्भिक युग की नाथ पन्थी रचनाओं और सिद्ध साहित्य के गहन अध्ययन में डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की रुचि हुई और उन्होंने सिद्ध साहित्य के आदि लेखक *सरहपा* के व्यक्तित्व और कृतित्व पर पुस्तक लिखी जो साहित्य अकादमी से छपी है। तन्त्र साधनाओं के इस रहस्यमय और विशाल सागर में गोते लगाने के फलस्वरूप डॉ. उपाध्याय ने जो अन्तर्दृष्टि आगम पर और आगम की परम्पराओं के समन्वित अध्ययन पर विकसित की उसने अनेक सर्जनात्मक रचनाएँ भी उनकी लेखनी से उद्भावित करवा दीं। मध्यकालीन रहस्य साधना की कथावस्तु और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित अनेक उपन्यास इन्होंने लिखे जिनमें '*जाग मछन्दर गोरख आया*' बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस उपन्यास की व्यापक चर्चा देशमें हुई और इस पर दूरदर्शनमें एक धारावाहिक भी प्रसारित हुआ। डॉ. उपाध्याय के लेखन का यह आधार इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी में ही क्या भारतीय भाषाओं में ऐसे बहुत कम लेखक होंगे जिन्होंने तान्त्रिक परम्परा का अध्ययन कर उसका आधार लेकर विमर्शात्मक या सर्जनात्मक ऐसा लेखन किया हो जो अधिकृत और प्रामाणिक कहा जा सके। कापालिकों पर, मसान साधना पर और टोने टोटके की चटखारे लेने लायक घटनाओं पर छुटपुट कहानियाँ और उपन्यास तो हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में बहुत देखने को मिले हैं किन्तु उनमें काल्पनिक एवं असङ्गत उड़ान इस तरह भर दी गई है कि उनसे तन्त्र के बारे में सही धारणा बनने की बजाय गलत धारणाएँ बनती हैं। गोपनीय रखे जाने पर किसी भी विद्या के साथ यही होती भी है। तन्त्र का नाम सुनते ही कपाल सिद्धि, अघोरी साधनाएँ, कामाचार, उल्टे सीधे टोने टोटके, मसान क्रियाएँ, पञ्चमकार इन्हीं सब चीजों की छवि मानस में बनती है। इसके सैद्धान्तिक और दार्शनिक पक्ष पर पिछले कुछ दशकों से ही साहित्य निकलने लगा है। ऐसे साहित्य के निर्माताओं में डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का नाम भी है। अपने इस उपन्यास में उन्होंने अनेक तान्त्रिक सिद्धान्त निविष्ट किये हैं।

आगम और तन्त्र

आगम की परम्परा में मूलत: सभी शास्त्रों और दर्शनों का समावेश होता था किन्तु अनेक प्रसङ्गों में निगम के नाम से वैदिक आचार और आगम के नाम से तान्त्रिक आचार विवक्षित होने लगे। इस दृष्टि से आगम साहित्य में तन्त्र का वह साहित्य आने लगा जिसमें तान्त्रिक ग्रन्थ, यामल, डामर, आदि भी आते थे और वैष्णव तन्त्र के सम्बन्धित ग्रन्थ भी शामिल थे। ऐसे ग्रन्थ लाखों की संख्या में लिखे जाते थे और घरों में संग्रहीत रहते थे किन्तु प्रकाशित नहीं किये जाते थे। कहते हैं इनका अध्ययन और इन पर आधारित साधनाएँ भी रात को की जाती थी इसीलिए इन्हें पाञ्चरात्र आदि नामों से अभिहित किया गया है। आजकल भी लोग यह पूछते हैं कि नवरात्रों को नव'रात्र' क्यों कहा जाता है। 'रात्र' शब्द को भी इसीलिए बाद में 'रहस्य' का

पर्याय ही माना जाने लगा। इस गोपनीयता के कारण इसके सिद्धान्तों की जानकारी विरल या लोपित होती गई, जबकि दूसरी और इनकी साधना वाचिक परम्परा के रूप में घर-घर में चलती रही। अत: इस परम्परा का व्यापक प्रभाव सांस्कृतिक आचारों पर पड़ता रहा। वैदिक आचारों के साथ तान्त्रिक साधना का ऐसा समन्वय हुआ कि आज जो परम्परा हमारी उपासनाओं में मिलती है उसमें इन दोनों के गङ्गा-जमनी सङ्गम को अलग-अलग कर पाना बहुत कठिन हो गया है। जब से तन्त्र की व्यापक परम्परा के ग्रन्थ प्रकाशित हुए तब से उनके पारम्परिक प्रभावों का भी अध्ययन होने लगा।

तन्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष की दो धाराएँ प्रसिद्ध हैं—शैवागम और शाक्ततन्त्र। मूलत: इनका अभिगम एक सा रहा होगा किन्तु बाद में दोनों में थोड़ा अन्तर हो गया। शैवागम अर्थात् शैव दर्शन, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहा जाता है और त्रिकदर्शन भी, काश्मीर में बहुत पनपा इसलिए इसका नाम ही काश्मीर शैव दर्शन हो गया। अभिनव गुप्त, उत्पल, सोमानन्द आदि आचार्यों ने इस दर्शन के सिद्धान्त ग्रन्थ लिखे। इस कारण भी इसे त्रिक दर्शन कहा गया और इच्छा, ज्ञान, क्रिया के तीन कारणों के कारण भी। शाक्त तन्त्र का दर्शन भी अनेक शाखाओं में पनपा। दूसरी ओर दोनों के आचार अर्थात् उपासना पद्धतियों का प्रचार अधिक हुआ। शैव तन्त्र में शिवोपासना के अनेक पन्थ निकले जैसे पाशुपत (लकुलीश), अघोर आदि। इसी प्रकार शाक्त तन्त्र में महाविद्याओं, भैरवों, भैरवियों आदि की उपासना पद्धतियाँ चली, नव दुर्गाओं की पुराणोक्त उपासना अलग चलने लगी। इन सबका अलग-अलग साहित्य बनने लगा। जब वैष्णव सम्प्रदाय पनपने लगा तो उस पर तन्त्राचार के जो प्रभाव पड़े उनके कारण वैष्णव आगमों के तान्त्रिक आचार भी चल पड़े। इनमें पाञ्चरात्र उपासना तथा गणेश, नृसिंह आदि की तान्त्रिक उपासना के विभिन्न पन्थ चल निकले। उधर बौद्ध परम्परा भी तन्त्र का प्रभाव पडा जिससे सिद्धों और नाथों की परम्परा चल निकली। सदियों तक इस प्रकार के प्रभावों के कारण साहित्य और संस्कृति का जो विशाल, व्यापक, विराट् किन्तु गोपनीय स्वरूप बना उसका आकलन कितना मूल्यवान् होगा यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इस सबका जो आकलन बङ्गला, हिन्दी आदि भाषाओं में होने लगा है, उसे देखकर उसकी अर्थवत्ता का अन्दाज लगाया जा सकता है।

तन्त्र का प्रभाव संस्कृति पर

तान्त्रिक आचारों के सदियों के इतिहास के कारण हमारी संस्कृति में अनेक ऐसी परम्पराएँ गहराई तक पैठ गई जिनमें तन्त्र की दृष्टि प्रतिष्ठित थी। इनका आकलन कठिन था क्योंकि साहित्य पर पड़े प्रभाव का आकलन तो लिखित वाङ्मय में अवगाहन कर किया जा सकता है किन्तु जीवन पर पडा प्रभाव स्पष्ट विश्लेषण की गुञ्जाइश, सुविधा और भूमि आसानी से नहीं छोड़ता। डॉ.विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ '*सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव*' में तान्त्रिक परम्परा के दोनों क्षेत्रों पर पड़े प्रभाव का बहुत अच्छा अध्ययन किया है। उन्होंने सन्त वैष्णव काव्य को आधार बनाकर अपने ग्रन्थ में तान्त्रिक परम्पराओं

के मूल वैदिक काल में उसके स्वरूप, *महाभारत* आदि में प्रतिफलित उसकी मान्यताओं तथा षट्दर्शन में तान्त्रिक तत्त्वों के अध्ययन से अपना ग्रन्थ प्रारम्भ किया है। उन्होंने हमारी स्थापित परम्परा के अनुरूप इस शास्त्र के आविर्भाव के अध्ययन का प्रारम्भ वेदकाल से अवश्य किया है किन्तु तान्त्रिक सम्प्रदायों के विवेचन के समय जैन और बौद्ध तन्त्रों से प्रारम्भ करके तन्त्राचारों के कालक्रम की सही दृष्टि दे दी है।

जैन योग में भी शाक्त तत्त्व की अलग धारा है। इसमें देवियों, यक्षणियों आदि की लम्बी परम्परा है। कुछ समय पूर्व पूना के विद्वानों में जो विचार-विमर्श सरस्वती के बारे में चला था उसका मुझे स्मरण आता है। जैनों में सरस्वती का स्वरूप और उपासना प्रकार अलग ही है। कुछ समय पहले सरस्वती का एक चित्र बहुत प्रचलित हुआ था जिसमें उनका वाहन मयूर उनके पास खड़ा बताया गया है। हमारे यहाँ सरस्वती को हंस-वाहना माना गया है। फिर मयूर कहाँ से आ गया ? इसी पर गहन शोध किया गया था। मेरे पिता स्व. भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने भी संस्कृत में इस पर विस्तार से लिखा था। उनकी स्थापना थी कि सनातन परम्परा की सरस्वती तो हंस-वाहना है किन्तु जैन परम्परा की सरस्वती के अनेक रूप हैं। वहाँ एक रूप मयूर वाहना यक्षिणी का भी है (जिसका चित्र प्रचलित है) दूसरा खड़ी हुई यक्षिणी स्वरूपा सरस्वती का रूप है जिसकी मूर्तियां राजस्थान के प्राचीन स्थानों के खनन में मिली हैं। अस्तु।

डॉ. उपाध्याय ने जैन तंत्र का संक्षिप्त हवाला देकर सरस्वती के सोलह व्यूहों का उल्लेख किया है। यह बहुमूल्य जानकारी है। बौद्ध तन्त्र साधना का ही प्रभाव रहा है। सरहपा आदि सिद्ध उसी परम्परा से प्रभावित थे। उन्होंने पाञ्चरात्र, शैव और शाक्त तन्त्रों पर उत्कृष्ट विवरण देते हुए इन परम्पराओं का विवेचन किया है जो पूर्णत: तथ्यपरक है और बहुमूल्य है।

सन्त काव्य के विकास का विवरण देते हुए उन्होंने कबीर से लेकर दादूपन्थी सन्तों तक तान्त्रिक योग साधना और भुवन साधना की मान्यताओं को तान्त्रिक प्रभाव बतलाया है। भक्ति की मान्यताओं पर भी योग और ज्ञान का प्रभाव किस प्रकार पडा, भारतीय काव्य में उनका समन्वय कैसे हुआ इस पर उनका अध्ययन बहुत मूल्यवान् है। मूलत: तन्त्र और योग के सिद्धान्त भक्ति के सिद्धान्तों से बिल्कुल विपरीत हैं किन्तु हमारे यहाँ इन सब पर भक्ति का ऐसा जादू चला कि सबमें भक्ति रस का प्रभाव देखा जा सकता है। एक दृष्टि से समस्त सन्त काव्य पर, तान्त्रिक उपासनाओं पर, जैन और बौद्ध साधना पर भक्ति के प्रकारों और जीवन दृष्टि का कितना गहरा प्रभाव है इसका अध्ययन अधिक सीधे तरीके से बात को समझा सकता है। डॉ. उपाध्याय का विवेच्य विषय दूसरे सिरे से बात को लाता है अत: उन्हें स्वभावत: तन्त्र को आधार बनाना पडा। उन्होंने वैष्णव काव्य पर आगम के प्रभाव का आकलन करते हुए राधा कृष्ण के शृङ्गार पर भी तान्त्रिक प्रभाव खोजा है। युगल उपासना को उन्होंने शिवशक्ति की उपासना की परम्परा से जोड़ा है। ठीक उसी प्रकार वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव को खोजते हुए वे राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति बतलाने के पीछे उसी प्रभाव का आधार सिद्ध करते हैं। राम भक्ति और कृष्ण भक्ति दोनों पर इस परम्परा के प्रभाव को उन्होंने स्पष्ट किया है।

राम की मधुर भक्ति और रसिक सम्प्रदाय तक वे पहुँच गये हैं, अग्रदास की युगल सरकार सेवा और रसिक सम्प्रदाय की सखी भाव तक उनका विवेचन पहुँचता है। यह सब व्यापक अध्ययन सूक्ष्म विश्लेषण दृष्टि का परिचायक है। इस अध्ययन के लिए उन्हें बहुत व्यापक स्तर पर मूल ग्रन्थों और सहायक ग्रन्थों का अध्ययन करना पडा होगा। गोपीनाथ कविराज के ग्रन्थ उन दिनों निकलने लगे थे। हो सकता है उनका पूरा ग्रन्थ समूह उस समय तक प्रकाशित न हुआ हो (जैसे – *तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि*)। किन्तु उन्होंने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया है। कोई ढाई सौ ग्रन्थों की सूची उन्होंने परिशिष्ट में दी है। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का जन्म १९२५ ई. में और निधन २००८ में हुआ।

तन्त्रशास्त्र के अध्ययन ने उनका ध्यान एक तो मध्यकाल के उस युग की ओर खींचा जिसमें ऐसी योग साधनाएँ चलती रहती थीं। इस चिन्तन का तो यह लाभ हुआ कि उन्होंने उस युग की पृष्ठभूमि को लेकर अनेक उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों में तन्त्र का वह सतही रूप नहीं है जो अर्ध-दग्ध लेखकों के टोने टोटके, शवसाधना, मूठ चलाने आदि घटनाओं से भरे आधुनिक उपन्यासों में मिलता है। अधिकृत तन्त्र साहित्य पढ़ने के कारण उनकी दृष्टि तन्त्र के उस स्वरूप तक पहुँचगयी जो उस समय वस्तुतः रहा होगा। सामान्य जन की कल्पना वाले टोने-टोटके और यन्त्र तन्त्र मन्त्र तक वे सीमित न रहे। दूसरा लाभ यह हुआ कि मध्यकालीन भाषाओं के उस साहित्य पर जो विभिन्न अपभ्रंश भाषाओं में लिखा गया इनके द्वारा दृष्टिपात किया गया जिसके विशेषज्ञ अब देश में बहुत कम बचे हैं। नाथपन्थी सिद्धों की कविता से हम हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रारम्भ करते हैं। किन्तु न तो उनकी भाषा को समझने वाले आज मौजूद हैं और न उनके दर्शन को। सिद्ध सरहपा के साथ भी यही स्थिति है। उन्हें हिन्दी का प्रथम कवि माना जाता है। किन्तु उनके बारे में बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। हिन्दी साहित्य के इतिहासों में जितने से विवरण मिलते हैं उन्हें देखकर ही सिद्धों की कविता का विवेचन और शिक्षण कर दिया जाता है। केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने *'भारतीय साहित्य के निर्माता'* ग्रन्थमाला के एक पुष्प के रूप में डॉ. उपाध्याय से *सरहपा* पर पुस्तक लिखवा कर एक नयी जमीन जोड़ी है क्योंकि उससे न केवल सरहपा का साहित्य प्रकाश में आया बल्कि उसके बहाने सिद्धों के युग की मान्यताओं, काव्य, भाषा और अभिव्यक्ति शैली पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ा है।

सिद्ध सरहपा

इस पुस्तक में उन्होंने सरहपा के व्यक्तित्व तथा मान्यताओं पर, कृतित्व तथा साधना पर, दर्शन पर, समाज शास्त्र पर, काव्य भाषा पर तथा गीत शैली पर सारगर्भित और सर्वाङ्गीण जीवन किया है। सरहपा के व्यक्तित्व के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध होतीहै। वे आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए थे। मूलतः उनका नाम राहुलभद्र था। योगी बनने पर वे सरह या सरहपा कहलाए जिसका संस्कृतीकरण होता है सरोरुहवज्र। वे हिन्दी के प्रथम कवि माने जाने चाहिए क्योंकि उनके पहले किसी ने इस भाषा में अर्थात् अर्द्धमागधी अपभ्रंश में कविता लिखी हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। जो लोग उन्हें बङ्गला भाषा का कवि मानते हैं उनका कोई

आधार नहीं है क्योंकि उस समय बङ्गला भाषा थी ही नहीं। फिर भी उसके उद्गमकाल के कवि वे उन्हें मानते हैं तो मान लें। डॉ. उपाध्याय को राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित *दोहाकोष गीत* का ही आधार मिला था जो सरहपा लिखित है, शेष अध्ययन उन्होंने सिद्ध साहित्य के विवेचकों के ग्रन्थों से किया। उन्होंने शोध विद्वानों की सत्यनिष्ठा का सच्चा अनुसरण करते हुए उन सब स्रोतों का हवाला दिया है जिनसे उन्होंने अध्ययन किया। भागलपुर अञ्चल के किसी गांव में पैदा हुए सरहपा ने शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया, वाचिक परम्परा से सीखा, नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्यापन भी किया जहाँ वे छात्र रहे थे और बौद्ध दर्शन, तत्कालीन तन्त्र साधना के प्रकारों तथा उस समय उपलब्ध समस्त भाषाओं के साहित्य का अनुशीलन करने के बाद उन्होंने अपनी स्वयं की यह मान्यता बनायी कि सहज साधना ही श्रेयस्कर है। सरहपा स्वयं ब्राह्मण थे पर उन्होंने निम्नजाति की एक कन्या को सहचरी, साधिका या शक्ति बनाया। उस समय के धर्म के पोंगा-पन्थियों के विरोध में लिखने के कारण उनका विरोध भी बहुत हुआ किन्तु अपनी साधना के कारण वे सिद्ध हो गये और उन्होंने कालजयी साहित्य लिख डाला। वे वज्रयान मार्ग में जिस प्रकार मन्त्रधान के पक्षधर थे यह डॉ. उपाध्याय ने बड़े प्राञ्जल और वैदुष्यपूर्ण तरीके से बलाया है। उन्होंने सरहपा के ३२ ग्रंथों की सूची दी है और उनकी मान्यताओं का सटीक विवेचन किया है।

सिद्धों का सहज मार्ग इन्द्रियों के दमन के विरुद्ध है। सिद्धि के लिए चित्तवृत्ति को सहजरूप से तदनुरूप बना कर गुह्य मार्गी आचार और राग साधना को पूर्ण करना ही उनका वाञ्छित प्रकार था। इस पर बौद्ध मध्यम मार्ग का भी प्रभाव था और विज्ञानवाद एवं शून्यवाद का भी। डॉ. उपाध्याय ने बौद्ध दर्शन तथा जैन एवं शैव मतों की मान्यताओं का विवेचन कर यह स्थापना की है कि सरहपा आत्मवाद और वस्तुवाद दोनों छोरों के बीच के मार्ग के पक्षधर थे। बौद्ध धर्म दर्शन की करुणा को वे मानते थे और हठयोग और भोगवाद दोनों के विरोधी थे। अपने अध्ययन से अर्जित वैदुष्य तथा साधना के प्रभाव के कारण उनकी मान्यताएँ बहुत गहरा प्रभाव छोड़ने वाली हैं। उनके सहज यान का प्रभाव सदियों तक सिद्धों, नाथों और निर्गुणियों पर रहा। यह सहजयान क्या है इसका भी डॉ. उपाध्याय ने अच्छा विवेचन किया है। सरहपा का तत्कालीन पाखण्ड के प्रति विद्रोह किस रूप का था यह उन्होंने सोदाहरण स्पष्ट कियाहै। इसके बाद एक अलग अध्याय में सरह की सामाजिक आलोचनात्मक कविता शीर्षक देकर सरहपा ने उस समय के अनेक आचारों का विरोध कैसे किया है यह बाद में उन्होंने और दोहरा दिया है। सरह की कविता के बारे में विवेचन करते हुए उनकी गूढ़ता को तान्त्रिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में वे अपरिहार्य मानते हैं। 'वे दुर्बोध प्रतीत हो सकते हैं पर हैं नहीं।' यह उनकी अभ्युक्ति है। उन्होंने राहुल के अनुवाद के उद्धरण दिये हैं। अत: उस समय सरहपा ने क्या शब्द शब्द लिखे होंगे इसका चाहे पूरा अन्दाजा नहीं लगता हो किन्तु उसमें अन्तर्निहित चिन्तन को उनके द्वारा बहुत स्पष्ट कर दिया गया है। युगनद्ध अवस्था सहज योगियों का एक प्रतीक है। उनकी कविता आपाततः चाहे कभी-कभी यौन कविता सी प्रतीत होती है किन्तु वह आध्यात्मिक अनुभवों की ही प्रतीकात्मक व्यञ्जना है। इसीलिए लेखक सरहपा की कविता 'प्रातिभ कविता' कहता है जो वेद की तरह अन्तर्दृष्टि से उपजी हो, उसमें

भावावेश और शब्दाडम्बर नहीं होता। सरह की वज्र गीतियों के अनेक ऐसे उद्धरण राहुल के अनुवादों के माध्यम से उन्होंने दिये हैं।

सरहपा की इस जीवनी को पढ़ते हुए मुझे लगा कि ६५ पृष्ठों की इस छोटी-सी पुस्तक में लेखक ने किस प्रकार विवेच्य व्यक्ति के कृतित्व और दर्शन पर सारगर्भित शोधात्मक सामग्री संक्षेप में भर दी है। इसे जीवनी कहना तो अन्याय होगा ही, यह किसी साहित्य निर्माता पर केवल परिचयात्मक पुस्तक भी नहीं है बल्कि तत्कालीन मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में एक साधक और लेखक की साङ्गोपाङ्ग पृष्ठभूमि बतलाने वाला शोधग्रन्थ है जो विस्तृत अध्ययन का आधार बखूबी बन सकता है। इसके अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों की जो सूची दी गई है वह इसे शोध ग्रन्थ बना देती है। इस नयी जमीन पर इतना संक्षिप्त और उत्कृष्ट विवेचन करने के लिए इसके लिखक को जितनी बधाइयां दी जायें कम हैं। यह तन्त्र के शोधकर्ताओं के लिए भी उपयोगी है, साहित्यानुसन्धाताओं के लिए भी।

सरहपा के पदों पर उन्होंने जो विवेचन किया है उसमें पुन: सिद्धों की भावभूमि को स्पष्ट किया गया है, साथ ही सरहपा द्वारा प्रयुक्त उपमानों, बिम्बों, प्रतीकों और मिथकों के भी नमूने दिये हैं। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने सरह की भाषा पर भी लिखा है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि सरह ने अर्द्ध-मागधी के अपभ्रंश में कविता लिखी थी और तद्भव शब्दावली का प्रयोग किया था। एक जगह उन्होंने संकेत अवश्य किया है कि उनके उद्धरण राहुल द्वारा हिन्दीकृत रूप से ही दिये गये हैं। अत: बिम्बों और प्रतीकों के विवेचन की ही गुञ्जाइश छोड़ते हैं। भाषा के स्वरूप का विवेचन तो उनके मूल पदों के विश्लेषण से ही हो सकता है। यह काम भाषाशास्त्रियों का है। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित जीवनी में तो यह सब आ नहीं सकता। फिर भी उन्होंने अनेक भाषिक और ध्वनिशास्त्रीय संकेत प्रसङ्गवश दे दिये हैं (जैसे—किस प्रकार अपभ्रंश में प्राकृत भाषा की तरह चतुर्थ वर्ण का (द्वितीय वर्ण का भी) है, य का ज हो जाता है, श का स हो जाता है।) डॉ. द्विजराम यादव द्वारा दिये गये उदाहरणों के आधार पर वे यह सामान्य निष्कर्ष भी देते हैं कि सातवीं-आठवीं शताब्दी में प्राकृत भाषाओं का अपभ्रंश स्वरूप प्रचलित था किन्तु सरहपा की भाषा में अपभ्रंश से हिन्दी की ओर रुझान स्पष्ट लगता है। इसी आधार पर इसे पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है। डॉ. उपाध्याय की यह स्थापना भी रुचिकर है कि सरहपा नयी भाषा और नये छन्दों के युग के आदि कवि हैं क्योंकि उन्होंने लोकछन्दों और लोकभाषा को गौरव दिया। उन्होंने पण्डितों की भाषा संस्कृत और स्थविरों की भाषा पाली के स्थान पर तत्कालीन लोकभाषा का प्रयोग करके नयी जमीन तोड़ी। तुलसी ने भी यही किया, कबीर आदि ने भी यह किया था। डॉ. उपाध्याय सरहपा द्वारा शबर कन्या को गौरव दिये जाने के प्रतीक से उनकी साधना की तन्त्र परम्परा का भी संकेत दे देते हैं, कविता के रुझान को भी व्याख्यायित करते हैं। वह भी उसी तरह अकृत्रिम है, सहज है, चाहे अशास्त्रीय हो।

अभिजात, शास्त्रीय, उच्चवर्गीय, क्लासिकल साहित्य ही प्रशस्त है, लोक सम्बद्ध, सहज, आमफहम तथा सामान्य जन से जुड़ा सबकुछ अवर है, इस मान्यता के प्रबल विरोधी हैं डॉ. उपाध्याय। कौन जानता है सिद्धों और नाथों की कविता के अध्ययन के पीछे भी उनका यह रुझान कहीं कारणभूत रहा हो। वैसे उन्होंने इस पुस्तक के अन्त में सहजयान को तान्त्रिक विचारधारा का उत्तराधिकारी और वामपन्थी विचारधारा का पूर्व पुरुष माना है। ब्राह्मणवाद ने सिद्धों को नीची निगाह से देखा था यह भी बताया है और उसे घोर अन्याय माना है। यह उनकी दृढ़ मान्यता के अनुरूप ही है। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ. उपाध्याय का तान्त्रिक वाङ्मय, साधना, सिद्ध साहित्य, विशेषकर सरहपा का कृतित्व तथा मध्यकालीन आचार आदि विषयों पर लिखा साहित्य साथ ही इससे प्रेरित सर्जनात्मक साहित्य जो हमारे सौभाग्य से विपुल मात्रा में उपलब्ध है, हिन्दी की बहुमूल्य थाती है। ऐसा विपुल लेखन गम्भीर अध्ययन और सुदीर्घ साधना का ही परिणाम होता है। इस बात के दोहराने की आवश्यकता नहीं।

अध्यक्ष, आधुनिकसंस्कृतपीठ,
जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालय,
राष्ट्रपतिसम्मानित, पूर्व-अध्यक्ष, राजस्थानसंस्कृतअकादमी
पूर्व-निदेशक संस्कृतशिक्षा-भाषाविभाग राजस्थानसरकार,
सी-८ पृथ्वीराज रोड, जयपुर३०२००१

जैनतन्त्र और साहित्य-सम्पदा

डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी

मानक परम्परा

भारतीय धर्मों में वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्मों की तीन धाराएँ सुप्रसिद्ध हैं और इन तीनों धर्मों के अनुयायी आचार्यों ने अपने-अपने धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उसको सर्वाङ्गपूर्ण बनाये रखने के लिए अनेकिवध साहित्य का निर्माण किया है। जैन विद्वानों ने अपने धर्म के सिद्धान्त की सुदृढ़ता के लिए निर्धारित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में तान्त्रिक वाङ्मय का भी सर्जन किया है। "जो साहित्य गतिशील होता है, उसमें प्राणवत्ता स्पन्दन करती हैं" इस उक्ति के अनुसार ही जैन धर्म ने 'आदान-प्रदान' के द्वार खुले रखकर एकता में अनेकता का विकास किया है।

धर्मप्राण देश में अनेकविध धार्मिक एवं उपासनामूलक शास्त्रों की शृङ्खला में जैन तन्त्र साहित्य की भी एक मानक परम्परा प्रचलित है। सम्प्रदायगत शाखा-प्रशाखाएँ भी प्राय: बनती-बिगड़ती रही हैं। १. श्वेताम्बर, २. दिगम्बर और ३. स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय की तीन प्रमुख शाखाएँ हैं और कतिपय अवान्तर शाखाएँ भी आज उभरी हुई हैं। सभी की दृष्टि में मूलत: साम्य है, किन्तु विधिगत मान्यताओं के कारण ये पृथक् अस्तित्व रख रही हैं।

जैनतन्त्र का उद्गम स्रोत एवं प्रवाह

जैन सम्प्रदाय में भगवद्भाषित एवं गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशाङ्गी में बारहवाँ अङ्ग 'दृष्टिवाद' के रूप में प्रसिद्ध है। इसमें ५ विभाग हैं—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत तथा ५. चूर्णिका। इनमें चौथे पूर्वगत विभाग में चौदह पूर्व वर्णित हैं, जिनमें दसवाँ पूर्व 'विद्यानुप्रवाद' है। यह 'विद्यानुप्रवाद' अतिविशाल है और इसी में साधना विधि, सिद्धि एवं साधनों का विस्तार से वर्णन किया गया है। जैन परम्परा की मान्यता है कि इन पूर्वों का ज्ञान प्राय: लुप्त हो गया है।

इसके अतिरिक्त 'द्वादशाङ्गी' के दसवें अङ्ग '*पद्मव्याकरण*' में मन्त्र-तन्त्रात्मक विषयों का वर्णन था, किन्तु वह भी आज उस रूप में उपलब्ध नहीं है। वर्तमान में जो 'पद्मव्याकरण' ग्रन्थ मिलता है, उसमें 'आस्रव' और 'संवर' का वर्णन है, '*नन्दिसूत्र*' में वर्णित 'पद्मव्याकरण' के विषयों में 'विद्यातिशय' का जो निर्देश है, वह आज अनुपलब्ध है।

प्राचीन ग्रन्थ सङ्घदास गणी द्वारा रचित *'वसुदेवहिण्डी'* (५वीं शती) के चौथे लम्बक में भगवान् ऋषभदेव के समय में ही होने का सङ्केत है। ऋषभदेव आद्य तीर्थङ्कर हैं।

एक अन्य मान्यता के अनुसार श्रीपार्श्वनाथ तीर्थङ्कर ने जैनतन्त्र और उसकी विभिन्न साधनाओं को जन्म दिया है। ये तेईसवें तीर्थङ्कर थे और योग एवं अन्य विविध सिद्धियों के धनी थे। इस समय जैन तन्त्रों में जो साहित्य मन्त्र-यन्त्रादि का प्राप्त होता है, उसमें सर्वाधिक श्रीपार्श्वनाथ से सम्बद्ध है। धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती देवी की उपासना में भी श्रीपार्श्वनाथ का ही महत्त्व है।

इस प्रकार मूल तीर्थङ्कर एवं उनके द्वारा भाषित आगमों से जनतन्त्र का उद्‌गम हुआ और उसका प्रवाह क्रमश: बढ़ते-बढ़ते आज अत्यधिक विस्तार को प्राप्त हो गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय का दक्षिण में पूर्ण प्रसार रहा, जिसके फलस्वरूप वहाँ जैन ब्राह्मणों की परम्परा भी विकसित हुई। उन्होंने अपने संस्कारों के अनुरूप जैन तन्त्र साहित्य में वैदिक विधानों के क्रम को भी अवतारित किया, बहुत-से प्रचलित मन्त्रों का जैनीकरण किया तथा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचनाएँ भी कीं। प्रभाचन्द्र का *'प्रभावकचरित्र'* ग्रन्थ इसी कोटि का है, जिसमें अनेक महाप्रभावी तान्त्रिक जैनाचार्यों की मन्त्र निष्णातता एवं प्रभावापन्न उत्कृष्ट कर्मों का वर्णन है। जैन आख्यानों में ऐसे अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं, जिनमें आचार्यों/सूरियों ने नगर में आये ईति, भीति, मारी, चोर आदि तथा प्रेतयोनि प्राप्त भूत, वेताल, डाकिनी, शाकिनी एवं व्यन्तरों के द्वारा किए गए उपद्रवों का तात्कालिक शमन मन्त्र साधना के बल पर ही किया था।

जैन मान्त्रिक स्तुतियों की फलसूचक पुष्पिकाओं से भी यह विषय स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि जैन आचार में ऐसी मन्त्र-तन्त्रात्मक साधना और प्रयोगों को कर्मबन्धन का कारण ही माना है, तथापि अन्य धर्मावलम्बियों की समानता में स्थिर रहने तथा हमारे धर्म में भी यह सब है, अत: अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं, इस मन्तव्य की सिद्धि के लिए इस क्षेत्र का भी विस्तार हुआ।

निवृत्ति प्रधान, अध्यात्मवादी तथा कर्म सिद्धान्त पर अटल विश्वास रखने वाले जैनधर्म के लिए तन्त्र मार्ग का आश्रय मूलत: श्रद्धा बनाये रखने की भावना से ही प्रवृत्त हुआ, ऐसी धार्मिक मान्यता है, तथापि आगमों में इस विषय के सङ्केत, विधि और महत्त्व के निर्देश मिलने से तन्त्रशास्त्रीय प्रवृत्ति को अपनी जैन धर्मानुमत सीमाओं में स्वीकरण से निषेध नहीं किया जा सकता।

साथ ही जो व्यक्ति यह कहते हैं कि "धर्म का उद्देश्य मनुष्य को मुक्ति मार्ग की ओर ले जाने का है, उसके साथ तन्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं" तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि मन्त्र-तन्त्र मोक्ष मार्ग के साधनभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र इन तीनों की पुष्टि करने वाले हैं। 'नमस्कार' यह मन्त्र है, 'सिद्धचक्र' यह यन्त्र है और 'स्नात्रपूजा' यह तन्त्र है। मन्त्र के अर्थ, भाव, रहस्य पर विचार करते हैं, तो सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है। यन्त्र की आराध्य वस्तु पर गहरा मनन करते हैं, तो सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है और पूजादि तन्त्र विधानों में तल्लीन होते हैं, तो भी सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है।

मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र की साधना-आराधना से शुभ भावों की अभिवृद्धि होती है, अत: वह चरित्र की पुष्टि करने वाली है। इस प्रकार तन्त्रोदित साधना मोक्ष मार्ग में उपकारक होने से भी यह विद्या अतिप्राचीन काल से जैनधर्म में समादृत स्थान को प्राप्त है।

जैन तन्त्र के देवी-देवता

प्राचीनकाल में जैन मन्त्र में मन्त्र साधक श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी इन छह देवियों की साधना करते थे, यह '*भगवती सूत्र*' आदि आगमों में आने वाले उल्लेखों से ज्ञात होता है। एक समय में तीर्थङ्करों की माताओं की भी पूजा-उपासना होती होगी, यह '*चिन्तामणि-कल्प*' आदि में आये विधानों से जाना जा सकता है। परन्तु विशेष रूप से जैन तन्त्र साधक सोलह विद्या देवियों तथा तीर्थङ्करों की, यक्ष-यक्षिणियों अर्थात् शासन देवों तथा शासन देवियों की साधना करते हैं। सोलह विद्याओं के नाम इस प्रकार हैं—१. रोहिणी, २. प्रज्ञप्ति, ३. वज्रशृङ्खला, ४. वज्राङ्कुशी, ५. अप्रतिचक्रा, ६. पुरुषदत्ता, ७. काली, ८. महाकाली, १०. गान्धारी, ११. सर्वास्त्रा-महाज्वाला, १२. मानवी, १३. वैरोट्या, १४. अच्छुप्ता, १५. मानसी और १६. महामानसी।

इन देवियों के वाहन, वर्ण तथा भुजा आदि का विस्तृत वर्णन 'निर्वाण-कलिका' में दिया गया है।

२४ तीर्थङ्करों के यक्ष और यक्षिणियाँ

क्रम	तीर्थङ्कर	यक्ष	यक्षिणी
१.	श्रीऋषभदेव	गोमुख	अप्रतिचक्रा (चक्रेश्वरी)
२.	श्रीअजितनाथ	महायक्ष	अजिता
३.	श्रीसम्भवनाथ	त्रिमुख	दुरिता
४.	श्रीअभिनन्दन	ईश्वर	कालिका
५.	श्रीसुमतिनाथ	तुम्बुरु	महाकाली
६.	श्रीपद्मप्रभु	कुसुम	अच्युता
७.	श्रीसुपार्श्वनाथ	मातङ्ग	शान्तादेवी
८.	श्रीचन्द्रप्रभ	विजय	ज्वालामालिनी
९.	श्रीसुविधिनाथ	अजित	सुतारा
१०.	श्रीशीतलानाथ	ब्रह्म	अशोका
११.	श्रीश्रेयांसनाथ	ईश्वर	मानवी (श्रीवत्सा)
१२.	श्रीवासुपूज्य	कुमार	प्रचण्डा (चण्डा)
१३.	श्रीविमलनाथ	षण्मुख	विदिता (विजया)
१४.	श्रीअनन्तनाथ	पाताल	अङ्कुशा

१५.	श्रीधर्मनाथ	किन्नर	कन्दर्पा (प्रज्ञप्ति)
१६.	श्रीशान्तिनाथ	गरुड़	निर्वाणी
१७.	श्रीकुन्थुनाथ	गान्धर्व	बला (अच्युत बला)
१८.	श्रीअरनाथ	यक्षेन्द्र	धारिणी
१९.	श्रीमल्लिनाथ	कुबेर	वैरोट्या
२०.	श्रीमुनिसुव्रत	वरुण	विरदना (अच्छुता)
२१.	श्रीनेमिनाथ	भृकुटि	गान्धारी
२२.	श्रीअरिष्टनेमि	गोमेध	कूष्माण्डी (अम्बिका)
२३.	श्रीपार्श्वनाथ	पार्श्व	पद्मावती
२४.	श्रीमहावीरस्वामी	मातङ्ग	सिद्धायिका

इनमें से प्रत्येक के मन्त्र-यन्त्र हैं और इनकी प्रमुख उपासना विधियाँ भी हैं। आज इन यक्ष-यक्षिणियों में से चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, कूष्माण्डी (अम्बिका) और पद्मावती देवी की उपासनाएँ विशेष रूप से होती है। इनके विशिष्ट कल्प, स्तोत्र, आम्नाय भी प्राप्त हैं।

इनके अतिरिक्त 'श्रुतदेवता' और 'सरस्वती', '६४ योगिनियाँ' तथा 'श्रीमणिभद्र' तथा 'घण्टाकर्ण' की पूजा-उपासना भी गतानुगतिक प्रवाह से आज भी चल रही है। अन्य यक्षिणी आदि के मन्त्रों की कर्मपरता से भी देव-देवियों के स्वरूप विस्तार में विविधता आयी है। इन देव-देवियों की स्थिति एवं गति के सम्बन्ध में भी बताया गया है कि ये आकाश और पाताल में निवास करते हैं। संसार में सुख-दुःख देने वाले, अच्छा-बुरा करने वाले जो देव अथवा देवियाँ हैं, वे सब पातालवासी ही होते हैं। जैन मान्यतानुसार देव देवियाँ भी सांसारिक जीव ही हैं, किन्तु मनुष्यों की अपेक्षा शरीर सम्पत्ति, बुद्धि, ऋद्धि-सिद्धि आदि के सम्बन्ध में वे अधिक सम्पन्न हैं तथा इसी श्रेष्ठता के कारण उन्हें 'देव' कहा जाता है।

जैसे देव के रूप में ज्ञात ईश्वरीय व्यक्तियों की ही भक्ति उपासना इष्ट कार्य और मनोरथों को पूर्ण करती है, उसी प्रकार इन सांसारिक देवों की उपासना भी विशिष्ट शक्तिमत्ता के कारण यथाशक्ति जीवों की बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की भावनाओं को, कामनाओं को सफल करती है।

इन देवों की शारीरिक सम्पदा सामान्य मनुष्य से भिन्न है। ये हम जैसे होते हुए भी भिन्न पुद्गल परमाणुओं से बने होते हैं। चैतन्य एवं अचैतन्य इस समग्र सृष्टि में पाँच प्रकार के शरीर—१. औदरिक, २. वैक्रिय, ३. आहारक, ४. तैजस एवं ५. कार्मण हैं। देव और देवियों के शरीर वैक्रिय होते हैं। इन वैक्रिय शरीरों में रक्त, मांस, मज्जा आदि सात धातुओं में से एक भी धातु नहीं होती, तथापि वैक्रिय वर्यणा के पुद्गल शरीर के उन स्थानों में इस प्रकार संयुक्त हो जाते हैं कि वे देखने में मानव जैसे होने पर भी मानव शरीर से अधिक सदृढ़, तेजस्वी, प्रकाशमान और अतिसुन्दर होते हैं। इन देवों के दर्शन अशक्य हैं, तथापि इनके दर्शन का एक मार्ग है और वह है मन्त्र साधना।

मन्त्र साधना से असम्भव भी सम्भव हो सकता है। वैक्रिय शरीरधारी देवलोक में जन्म लेने के बाद ही त्रिकाल ज्ञानकारी मर्यादित अवधि ज्ञान को प्राप्त होते हैं। उसी के द्वारा वे भगवान् की समर्पण भाव से भक्ति-उपासना करने वालों की इष्ट सफलता में सहायक होते हैं। इसी प्रकार स्वयं उनकी पूजा-उपासना करने वालों पर प्रसन्न होकर उनकी इष्टपूर्ति करते हैं। वे मानव की अपेक्षा शक्ति सम्पन्न होने के साथ ही सदा नीरोगी, सुगन्धित श्वास वाले, चिरयुवा, दीर्घायु होते हैं। अत: ये केवल भौतिक सुख देने में ही सहायक नहीं होते, अपितु धर्म प्राप्ति, कर्मक्षय तथा मोक्ष प्राप्ति में भी सहायक बनते हैं।

जैन धर्म और मन्त्र

सभी धर्मों में जिस प्रकार साधना का सर्वोत्तम साधन 'मन्त्र' को बताया गया है, उसी प्रकार जैन धर्म भी स्वात्म बोध, स्वरूप ज्ञान तथा सांसारिक अपेक्षाओं का परिपूरक 'मन्त्र' को ही बताता है। जैन धर्म की एक परिभाषा प्रसिद्ध है—"आत्मा के लिए, आत्मा के द्वारा प्राप्य और आत्मा में प्रतिष्ठित होने वाला धर्म जैन धर्म है।" इसी मन्तव्य की पुष्टि के लिए पूर्ववर्ती महापुरुषों ने अनेक उपाय बताये हैं, जिनमें मन्त्र-तन्त्रात्मक साधना पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हजारों वर्षों से प्रयुक्त, परीक्षित एवं अनुभव सिद्ध इस पद्धति के प्रयोगों से हजारों साधकों ने अभीष्ट सिद्धि के द्वार उद्घाटित किए हैं, असम्भव को सम्भव बनाया है तथा यथायोग्य आवश्यकतानुसार परिष्कार भी किए हैं। जैन आगमों से आविर्भूत मन्त्र और मन्त्र साधना के विधानों के दीर्घकालिक अनुष्ठानों से प्रसन्न होकर स्वयं आराध्य देवों ने भी इस सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये हैं, यह भी विभिन्न आचार्यों के चरित से प्रमाणित होता है।

साधना की शास्त्रोपदिष्ट पात्रता प्राप्त करके निर्मल भाव से गुरुपदिष्ट विधि से साधना करने पर यह सर्वार्थ सिद्धि देती है, यह सुनिश्चित शास्त्रवचन है।

जिन नमस्कार मन्त्रात्मक साहित्य

जैन धर्म का आराधना मन्त्र 'पञ्चनमस्कार मन्त्र' के नाम से विख्यात है। यह मन्त्र पाँच आराध्य—१. अर्हत्, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय एवं ५. साधुओं का प्रणति करने से, 'नम:' पद से आरम्भ होने से तथा पाँच पदों से युक्त होने के कारण 'पञ्च नमस्कार' कहा जाता है। मन्त्र के पाँच सूत्र रूप, नमस्कार रूप पदों के अतिरिक्त इस मन्त्र में एक पद्य फल श्रुतिरूप भी है, उसके चार पदों के योग से इसे (५+४=९ पद) नवकार भी कहते हैं। नव का अर्थ नमन भी मान्य है। मूलत: इस मन्त्र की भाषा अर्धमागधी है, अत: इसके नाम 'णमोकार, णमुक्कार' आदि भी प्रचलित है।

यह मन्त्र महामन्त्र के रूप में सर्वसम्प्रदाय द्वारा मान्य, जाप्य, स्मरणीय, मननीय और तन्त्रात्मक पद्धति से उपास्य है। विभिन्न धर्मों के मान्य मन्त्रों की उपासना पद्धतियों के अनुसार जैन धर्मानुयायी आचार्यों ने भी

इसकी महिमा को व्यक्त करने के लिए शास्त्रीय प्रक्रियाओं द्वारा व्याख्यान किए हैं, भाष्य लिखे हैं, तर्कों द्वारा तथ्यों को निर्धारित किया है तथा सर्वविध सिद्धियों का परिपूरक बताकर जिनागमों का सार बतलाया है।

"इसी मन्त्र के द्वारा जैन साधक विभिन्न अनुष्ठानों के आचरण द्वारा निश्चित लक्ष्य तक पहुँचे हैं, अत: यह नितान्त महत्त्वपूर्ण है" इस मन्तव्य को स्पष्ट करने वाले आख्यान भी जैन वाङ्मय में चतुर्विध सङ्घ—१. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक और ४. श्राविकाओं के लोकोत्तर चरितों के परिचायक प्राप्त हैं और इनमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार वे सङ्कटों से पार हुए तथा लौकिक विडम्बनाओं से मुक्त होकर मोक्ष लक्ष्मी का वरण करने में सफल हुए।

जैन साधना की विधियाँ भी अपने ढङ्ग से कतिपय विशिष्टताओं को लिए हुए है, जिनमें तप की प्रधानता है। यह तप बहुत प्रकारों से मण्डित है, यौगिक क्रियाएँ भी इसमें समन्वित हैं। विशिष्ट जैन सम्प्रदायों में मान्य पर्वों पर नमस्कार मन्त्र की आराधना सामूहिक रूप से भी होती है, विशाल मण्डल यन्त्र की रचना करके उसकी महापूजा की जाती है।

इस मन्त्र के साथ इष्ट बीज मन्त्रों का संयोजन करके जप स्मरण किया जाता है और सर्वमन्त्र शिरोमणि प्रणव, ॐकार का ही यह विस्तृत रूप मन्त्र है, ऐसा सिद्ध करते हुए जैनाचार्यों ने 'अ-सि-आ-उ-सा नम:' मन्त्र के पदाक्षरों में सि-सिद्ध और सा-साधु के पर्याय रूप अशरीरी-सिद्ध तथा मुनि-साधु को मानकर 'अ अ आ उ म्' इन पाँच स्वर व्यञ्जनों की समष्टि सिद्ध की है। इस प्रकार ॐकार रूप को नमस्कार-मन्त्रात्मक बतलाकर ॐकार की आकृति में पाँचों आराध्य देवों को विराजमान भी दिखलाया है, जिनके स्वरूप एवं वर्ण भी अङ्कित होते हैं।

जैन तन्त्र की प्रवृत्ति में 'नमस्तकार मन्त्र साधनात्मक' साहित्य का पूर्ण विस्तार है। अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, हो भी रहे हैं तथा हस्तलिखित प्रतियों के रूप में भी यह साहित्य विभिन्न ग्रन्थागारों में उपलब्ध है।

नमस्कार मन्त्र को जैन मतानुसार अनादि काल से चला आया माना जाता है। एतदर्थ यह वचन है—

अणाइ कालो अणाइ जीवो अणाइ जिणधम्मो।
तइया वि ते पढंता इसुच्चिअ जिण्णमुक्कारो।।

'*महानिशीथ सूत्र*' में इसे 'पञ्चमङ्गल महाश्रुत स्कन्ध' कह कर सकल जैन आगमों में व्याप्त बताया है। जैन धर्म की समस्त साधनाओं का मूल होने के कारण 'नमस्कार मन्त्र' की तन्त्रात्मक विचारणा एवं व्याख्याएँ भाष्य एवं स्तोत्रों में पर्याप्त उपलब्ध हैं। नमस्कार मन्त्र को सर्वव्यापी मन्त्र के रूप में जैन आगम और शास्त्रों में बहुत ही वैदुष्यपूर्ण पद्धति से परिभाषित किया है। कोई ऐसी तन्त्रमूलक, योगमूलक, उपासनामूलक और अन्य धर्मों में प्रचलित विधि नहीं रही है, जिसमें नमस्कारमन्त्र का समावेश नहीं हुआ हो। अर्धमागधी में सङ्कलित जैन आगमों में प्रधानत: इस मन्त्र के जो-जो सङ्केत आये हैं, उनकी व्याख्या बड़े-बड़े सिद्ध-

सारस्वत आचार्यों ने अत्यन्त विशद रूप से की है और उन भाष्यों-व्याख्याओं में वे सभी तथ्य प्रकट किए हैं, जिनकी अपेक्षा रहती है। इनका यत्किञ्चित् परिचय इस प्रकार है—

१. **सप्तस्मरणेषु प्रथमं नमस्कारस्मरणम्**—इस पर श्रीसिद्धिचन्द्रगणिकृत व्याख्या और श्रीहर्षकीर्ति सूरि की व्याख्या है।

२. **नमस्कारान्तर्गत पदविशेषानेकार्था:**—पण्डित गुणरत्न मुनि ने यह व्याख्या बहुत विशद रूप से की है तथा नमस्कार के प्रत्येक पद के व्याकरण और अन्य शास्त्रों के आधार पर अर्थ किए हैं। इसके स्मरण से प्राप्य लाभों का सूचन भी यहाँ हुआ है।

३. **भगवतीसूत्रस्य मङ्गलाचरणम्**—इस पर श्रीअभयदेव सूरि ने 'वृत्ति' की रचना की है। यह सूत्र 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। इस व्याख्या का सम्पादन मुनिराज श्रीपुण्यविजय ने किया है। व्याख्या के अन्त में शङ्का समाधान को भी स्थान दिया है।

४. **श्रीमहानिशीथसूत्रसन्दर्भ (नमस्कारमन्त्र)**—इसमें नमस्कार मन्त्र के उपधान विधान पर विशेष विचार किया गया है। यहाँ नमस्कार मन्त्र के पदों का उपदेश 'दीक्षापूर्वक' किस प्रकार लिया जाए, इसका बहुत ही महत्त्वपूर्ण विवेचन है। पदच्छेद, घोषबद्धता, आनुपूर्वी, पूर्वानुपूर्वी, अनानुपूर्वी आदि विचारणीय विषय मन्त्र शास्त्र के लिए अत्युपयोगी हैं।

५. **चैत्यवन्दनमहाभाष्ये नमस्कारसूत्रम्**—अष्टषष्टि ६८ अक्षरों वाले 'नमस्कारमन्त्र' के विवेचन में वर्ण, छन्द, चूलिकाएँ, वृच्छसम्प्रदाय आदि का स्पष्टीकरण देते हुए श्रीधर्मकीर्तिसूरि ने वि.सं. १२७० में यह शास्त्र लिखा है।

६. **उपहाण विधि थुत्त**—श्रीमानदेव सूरि (वि.सं. १२६१) का उपधान विधिस्तोत्र प्राकृत में रचित ५४ गाथाओं का स्तोत्र है। श्रीजिनप्रभसूरि ने '*विधिमार्गप्रथा*' में इसे बहुत आदर से उद्धृत किया है। यह स्तोत्र उपधान व्रत की प्रामाणिक विधि को प्रस्तुत करता है। इसमें नमस्कार स्तोत्र, ईरियावही-तस्स, उत्तरीसूत्र, नमो त्थु णं सूत्र, अहिरहंत चेईमाणं सूत्र, अन्नत्थसूत्र, लोगस्स सूत्र, पुक्खरवर दीवड्ढे सूत्र, सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र और वेयावच्चगराणं सूत्र की वाचनाओं के तप की, उपधान दिनों की विधि के सम्बन्ध में जानकारी देता है। एक प्रकार से यह व्रत उक्त सूत्रों के दीक्षोपदेश का विधान स्पष्ट करता है। इसमें अनेकविध उपवासों के नियम भी प्रदर्शित हैं।

७. **आवश्यकनिर्युक्तिगत नमस्कारनिर्युक्ति (वि.सं. छठी शती)**—इसकी रचना श्रीभद्रबाहु स्वामी ने १३८ गाथाओं में की है। श्रीभद्रसूरिकृत 'शिष्यहिता' टीका और विशेषावश्यकभाष्य के अनुरूप नमस्कार मन्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यहाँ सूक्ष्म विचार प्रस्तुत हुआ है। यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए—१.

उत्पत्ति, २. निक्षेप, ३. पद, ४. पदार्थ, ५. प्ररूपणा, ६. वस्तु, ७. आक्षेप, ८. प्रसिद्धि, ९. क्रम, १०. प्रयोजन और ११. फल इन ग्यारह द्वारों से, प्रश्नों से विचार किया गया है।

८. षट्खण्डागम सन्दर्भ (नमस्कार मन्त्र व्याख्यादि)—श्रीपुष्पदन्त भूतबलिप्रणीत तथा श्रीवीरसेनाचार्यरचित 'धवला' टीका से युक्त नमस्कार मन्त्र व्याख्या में शङ्का समाधान पद्धति से महत्ता, मङ्गलरूपता एवं पद पदार्थानुसारी व्याख्यान है। यह ग्रन्थ दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का बहुमान्य ग्रन्थ है।

९-१०. अर्हन्नमस्कारावलिका तथा सिद्धनमस्कारावलिका—ये अर्हत् और सिद्धों के १०८-१०८ गुणों को व्यक्त करने वाली नमस्कारादि पदों से युक्त कृतियाँ अज्ञातकर्तृक हैं।

११. अरिहाणाइ थुत्त अथवा पञ्चपरमेट्ठि थुत्त—अज्ञातकर्तृक यह कृति जैन परम्परा की मन्त्र और ध्यान विषयक प्राचीन प्रणाली को प्रस्तुत करती है। यहाँ धर्मचक्र का मन्त्र स्वरूप तथा नमस्कार मन्त्र का ध्यान विशिष्ट प्रकार से दिया है। मुख्यत: इस स्तोत्र में पाँच विषयों का निरूपण है—१. नमस्कार सूत्र का रहस्य, २. चार शरणों का रहस्य, ३. पञ्च नमस्कार चक्र, ४. ध्यान प्रक्रिया तथा ५. धनुर्विद्या। इस स्तोत्र में ३६ गाथाएँ हैं।

१२. पञ्चनमस्कारचक्रोद्धारवृत्ति—श्रीभद्रगुप्त स्वामी महासैद्धान्तिककृत इसका वर्णन 'यन्त्रात्मक साहित्य' में वर्तमान चक्रोद्धार विधि में किया है।

१३. नवकार-सारूपधवणं—श्रीमानतुङ्गसूरिकृत—यह स्तवन ३५ गाथाओं में रचित है। इस स्तोत्र पर 'नमस्कार व्याख्या टीका' स्वोपज्ञ प्राप्त है, जिसके आधार पर मन्त्रशास्त्रीय विभिन्न विधियों का रहस्य समझाते हुए मन्त्रपद और प्रयोगविधि स्पष्ट की गई है। संस्कृत में यह व्याख्या बहुत उपयोगी है। अनेक विद्याओं का उद्धार, यन्त्रिकाएँ, रञ्जिकाएँ, षट्कर्म, ध्यानविधि आदि विषयों का तथ्यपूर्ण विवेचन इस व्याख्या की अपूर्वता को सिद्ध करता है। सिद्धचक्रमहिमपद्धति स्तवन, सिद्धचक्र ध्यातव्य विधि, लघुसिद्ध चक्र स्तोत्र, चूडामणि प्रस्ताव, चिकित्सा, रसायन विद्या, ज्योतिष आदि अनेक विषयों का संग्रह हुआ है। यह व्याख्या दो विभागों में विभक्त है। प्रथम विभाग में स्तोत्र, स्तोत्र से सम्बद्ध साधना विधि, फल, पञ्चपदाम्नाय, प्रमुख मन्त्र स्तोत्रादि हैं। द्वितीय विभाग में स्तवन की भिन्न-भिन्न क्रम से गाथाएँ देकर उसमें पूर्वोक्त स्तोत्रादि के साथ 'आयशास्त्र, पञ्चस्वरोदय, शरीर स्वरोदय, नाड़ी शास्त्र, अर्थकाण्ड, वैद्यक शास्त्र, जैन तत्त्व ज्ञान' आदि भी वर्णित है।

१४. कुवलयमाला सन्दर्भ (नमस्कार मन्त्र) श्री उद्योतसूरि (वि.सं. ८३५)—यह प्राकृत भाषा में रचित चम्पूकाव्य है। इसका १३ हजार श्लोक प्रमाण है। श्री रत्नप्रभसूरि ने इसका सङ्क्षिप्त रूपान्तर ४ हजार श्लोकप्रमाण में गद्य-पद्य रूप में किया है। इसमें पाँच पात्रों की कथा के माध्यम से पञ्चपरमेष्ठी की आराधना का विषय वर्णित है।

१५. **पञ्चपरमेष्ठितत्त्वसार**—यह संग्रह ग्रन्थ है। इसमें परमेष्ठ्यादि पदगर्भित मन्त्रों के आम्नाय सहित पाठ सङ्गृहीत हैं। ८१ मन्त्रों का सविधि उल्लेख इसकी विशिष्टता को व्यक्त करता है। ग्रन्थ नाम का सूचन 'नमस्कारव्याख्यानटीका' में हुआ है।

१६. **पञ्चनमस्कारफलस्तोत्र श्रीजिनचन्द्रसूरि**—यह स्तोत्र ११८ गाथाओं में रचित है। कर्त्ता श्री अभयदेव सूरि के सतीर्थ्य थे। इस स्तोत्र के अपरनाम 'नमुक्कार फलपगरणं' और 'वुङ्कनमुक्कार फलथुत्तं' भी है। नमस्कार मन्त्र के फल का इसमें विशद वर्णन है।

१७. **नमुक्कार रहस्य थवणं श्रीजिनदत्तसूरि**—इस स्तवन में १२ गाथाएँ हैं। कर्त्ता प्रतिभाशाली तत्त्वज्ञ और मान्त्रिक थे। एक श्रावक को व्यन्तर की पीड़ा से मुक्त कराने के लिए '*गणधरसप्ततिका*' की रचना की थी। यह स्तवन भी मन्त्र विदर्भित होने से बड़ा प्रभावक माना जाता है।

१८. **जिरिगणिविस्ताथुत्तं अज्ञातकर्तृक**—यह स्तोत्र नमस्कारमन्त्र के ध्यान, उपदेश और अभ्यास के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है। गणिविद्या का महत्त्व वर्णन करके यह निर्देश किया है कि प्रत्येक विद्या का नमस्कारमन्त्रपूर्वक स्मरण करने पर वह अधिक फलदायक होती है।

१९. **जिनपञ्जरस्तोत्र श्रीकमलप्रभसूरि**—यह २५ पद्यों का स्तोत्र 'कवच' की पद्धति पर निर्मित है। न्यास की प्रक्रिया पर विशेष सूचना करते हुए इसमें पञ्चपरमेष्ठी तथा २४ तीर्थङ्करों के शरीर में किस-किस स्थल पर न्यास करना चाहिए, यह बताया है। न्यास के फलों का भी कथन किया है।

२०. **परमात्मपञ्चविंशतिका उपा. श्रीयशोविजयगणि**—इसमें परमेष्ठी जिनेश्वरों के शुद्ध स्वरूप का वर्णन तथा उनकी विशेषताओं का सुन्दर वर्णन किया गया है।

२१. **पञ्चनमस्कृतिदीपक भट्टारक सिंहनन्दी**—इसमें १. साधन, २. ध्यान, ३. कर्म, ४. स्तव और ५. फल नामक पाँच अधिकार हैं। ४३ पद्यों में नमस्कार मन्त्र की विशेषताओं का व्यापक रूप से वर्णन किया गया है। अनेक विद्याएँ तथा मन्त्र इसके सन्दर्भ में सविधि दिए गए हैं।

२२. **आत्मरक्षानमस्कारस्तोत्र**—अज्ञातकर्तृक पद्यों का यह स्तोत्र 'कवच' पद्धति पर निर्मित है। इसमें न्यास विधान दिया गया है।

इसी प्रकार सहस्रनाम स्तोत्रों की भी रचनाएँ हुई हैं तथा 'लक्षनवकार गुणनविधि' पर भी लिखा गया है। नमस्कार मन्त्र के जप की अनेक विधियाँ आचार्यों ने विकसित की हैं। मालाओं के प्रयोग तथा करमालाओं के ३० वर्त, ह्रींवर्त, श्रींवर्त शङ्खावर्त, नन्द्यावर्त आदि प्रकार अन्य धर्मों की अपेक्षा स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं।

यह भी स्मरणीय है कि तान्त्रिक प्रक्रियाएँ अपने-अपने धर्म के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के घेरे में फिरती रहती है और उनमें तत्कालीन लोक प्रवृत्तियों की प्रतिच्छाया भी प्रविष्ट होती रहती है।

अन्य जैन मन्त्रात्मक साधना साहित्य

मन्त्र रचना में मूलत: मातृका वर्णों का ही संयोजन रहता है। अत: मन्त्र ज्ञान से पूर्व मातृका के अक्षरों पर चिन्तन भी जैन आचार्यों ने स्वीकार किया है। 'नमस्कार मन्त्र' से ही वर्ण मातृका की उत्पत्ति प्रदर्शित की गई है, जिसे मन्त्र ग्रन्थों में 'स्वतन्त्र' और 'मिश्ररूप' से व्यक्त किया है। कतिपय प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. विद्यानुशासन, मल्लिषेण सूरि वि.सं. ११९० अनु.—यह विविध मन्त्रशास्त्रों का संग्रह ग्रन्थ है। इसमें ७००० पद्य तथा २४ प्रकरण हैं। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के अवतरण इस सङ्कलन में हैं, जिनके आधार पर पूर्ववर्ती मन्त्रात्मक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के परिचय भी मिलते हैं। यह भी मान्यता है कि इस ग्रन्थ में उत्तरकाल में कुछ अंश प्रक्षिप्त भी हैं। यहाँ अकारादि-हकार पर्यन्त वर्णों की मन्त्ररूपता को प्रतिपादित करते हुए 'मन्त्र व्याकरण' भी द्वितीय प्रकरण में दिया है। वर्णों के स्थान, चतुर्वर्ग, रङ्ग, सिद्धि-तिथियाँ, वार, अक्षरों की गति, मैत्री-शत्रुता, पार्थिवादि मण्डल, लिङ्ग परिचय, शक्ति एवं स्मरण फल भी इसमें दिये गये हैं। एतदतिरिक्त अनेक जैन देवी-देवताओं के मन्त्र विधान, बाल चिकित्सा, यन्त्र आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इसी नाम से अन्याचार्य निर्मित अन्य ग्रन्थ भी एक-दो प्राप्त होते हैं।

२. मातृकाप्रकरण-सन्दर्भ, श्रीरत्नचन्द्र गणि—इसमें भाषा, सन्धि नियम, छन्द, वर्ण प्रस्तार, उच्चारण विधि के साथ 'याक्षीय अल्पाक्षरी सङ्केतविधि' का सङ्केत विशिष्ट है। ॐ की निष्पत्ति पाँच वर्णों 'अ-अ-आ-उ-म्' से होने का प्रकार भी यहाँ स्पष्ट किया है। अन्य बीज मन्त्रों की निष्पत्ति पर भी प्रकाश डाला गया है और जप प्रक्रिया भी प्रदर्शित है।

३. मन्त्रराजरहस्य, सिंहतिलकसूरि, वि.सं. १३३२—यह ग्रन्थ ८०० श्लोकों में निर्मित है। इसमें सूरिमन्त्र पर विशेष विचार है, जिसके प्रथम पीठ में ५० लब्धिपद हैं और इनमें से प्रत्येक में २०-२० विद्याएँ हैं। अत: मन्त्रराज पीठ में १००० विद्याएँ तथा १००० मन्त्रों का उल्लेख है। लेखक ने इस पर स्वोपक्ष 'लीलावती' नामक वृत्ति भी लिखी है।

४. ज्ञानार्णव, शुभचन्द्राचार्य, वि.सं. ११३०—यह कृति योग, ध्यान एवं मन्त्र शास्त्रीय विषयों का एक विशिष्ट संग्रह है। इसमें २०७७ श्लोक हैं। ४२ सर्गों में यह विभक्त है। प्राणायाम को इन्होंने निरुपयोगी बताया है। कालज्ञान के लिए 'पवनजय' को प्रमुखता देकर इन्द्रिजय का उपाय चित्त की शुद्धि को बताया है। पाँच महाव्रतों से सम्बद्ध भावनाओं का निरूपण तथा मन्त्र बीज, मन्त्र मातृका आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला है। 'अर्हं' बीज मन्त्र और नमस्कार मन्त्र के पदों से वर्ण मातृका की उत्पत्ति भी ज्ञानार्णवकार ने बताई है। इस ग्रन्थ पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं—

१. तत्त्वत्रयप्रकाशिनी, श्रुतसागर रचित

२. टीका नाम विलास, एवं

३. टीका अज्ञात कर्तृक है।

५. ज्ञानार्णवसरोद्धार, अज्ञातकर्तृक—यह ग्रन्थ ज्ञानार्णव का सङ्क्षिप्त रूप है।

६. योगशास्त्र, हेमचन्द्राचार्य, वि.सं. १२००—श्रीहेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र '*अध्यात्मोपनिषद्*' और '*अध्यात्मविद्योपनिषद्*' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह बारह प्रकाशों में विभक्त है। इसमें २००९ पद्य हैं। इसमें जैन धर्म के मार्गानुसारी के ३५ गुण, सम्यकत्व और मिथ्यात्व श्रावकाचार के प्रारम्भिक पाँच अणुव्रत, शेष ७ व्रत के अतिचारों का निरूपण, रत्नत्रय ऐक्य भावना, ध्यान, आसन, प्राणायाम प्रकार, कालज्ञान, परकाय प्रवेश विवरण, रूपातीत ध्यान, सिद्धि आदि का र्वान है। प्रासङ्गिक रूप से इस गन्थ में योग के साथ प्रयोज्य मन्त्रशास्त्रीय विषय भी चर्चित हैं। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय का यह परम मान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर 'स्वोपज्ञ वृत्ति' भी रचित है। विषय विशेष के स्पष्टीकरण में प्राय: ७ विवरण लिखे गए हैं। इसका गुजराती भाषा में अनुवाद भी हुआ है, हिन्दी और जर्मनी अनुवाद भी प्रकाशित हैं।

७. ब्रह्मविद्याविधिअथवा मन्त्रसारसमुच्चय—यह विजयवर्णी रचित, एक लघु कृति है। इसमें ह्रीं बीज 'ॐ' तथा 'अहं' बीज के तान्त्रिक स्वरूपों का विवेचन है।

८. भद्रबाहुसंहिता, श्रीभद्रबाहु।

९. जैनतन्त्रसार।

१०. केवलज्ञान प्रश्नचूड़ामणि।

११. बृहद् विद्यानुवाद।

१२. जैनेन्द्रसूरि सिद्धान्तकोश गणेशवर्णी जी।

१३. धर्मोपदेशमाला, धर्मदास गणि (वि.सं. ९१५)—इसमें 'अर्हं' अक्षर तत्त्व स्तव का कथन हुआ है, जिसमें अ-र-ह्-बिन्दु इन चार तत्त्वों की महत्ता प्रतिपादित की गई है। इस ग्रन्थ पर अनेक जैनाचार्यों ने व्याख्या और विवरण लिखे हैं। श्री जयसिंह सूरि ने 'धर्मोपदेशमाला विवरण' लिखा है। विवरण के अन्त में श्री जयसिंह सूरि ने ३१ प्राकृत गाथाओं में प्रशस्ति भी दी है। इसमें 'अर्हं' को कुण्डलिनीयोग, नादानुसन्धानयोग, लययोग आदि का जनक भी कहा है।

१४. श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने सिद्ध हेमशब्दानुशासन, उसकी स्वोपज्ञ तत्त्वप्रकाशिका टीका, संस्कृतद्वयाश्रय महाकाव्य, अभयतिलक गणिकृत टीका सहित तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित और उसकी सोमदेव गणिकृत अवचूर्णि एवं श्रीप्रभानन्द सूरिकृत विवरण में नमस्कार मन्त्र के सम्बन्ध में अनेकविध वैशिष्ट्य का निदर्शन कराया है।

१५. तत्त्वार्थसार दीपक, भट्टारक सकलकीर्ति—यह एक महान् ग्रन्थ है। इसमें जैन धर्म के तत्त्वों को विस्तार से समझाया गया है। पाण्डुलिपि की पत्र संख्या ५५ से ६५ तक है। इसमें नमस्कार मन्त्र के सम्बन्ध

में १५४ पद्य लिखे हैं। ग्रन्थकार ने पदस्थ ध्यान के विषय को स्पष्ट करने के लिए 'ज्ञानार्णव' के पद्यों का सामान्य परिवर्तन के साथ उपयोग किया है। पदस्थ ध्यान अत्यन्त स्वाधीन है, अत: सत्पुरुषों को मुक्ति के लिए सुसाध्य है, यह कह कर वर्णमाला का ध्यान, मन्त्राधिराज हूँ, अर्हं, हङ्कार, ॐकार आदि के ध्यान, मन्त्रमयता, जप विधि, प्रयोगसापेक्ष मन्त्र विधान आदि यहाँ वर्णित हैं।

१६. तत्त्वानुशासन, श्रीनागसेनाचार्य—ध्यान विषय का यह अद्भुत ग्रन्थ है। व्यवहार ध्यान तथा निश्चय आत्मालम्बन ध्यानपूर्वक पञ्चपरमेष्ठी के स्वरूप आदि का विशेष वर्णन है।

अभयकुमार चरित, सुकृत सागर—(अपर नाम पेयडचरित)। वर्धमानसूरि का आचार दिनकर, रत्नमन्दिरगणि की उपदेशतरङ्गिणी आदि अनेक ग्रन्थों में मन्त्रशास्त्रीय एवं योगशास्त्रीय विधियों का स्वरूप बताया गया है।

मन्त्र साधना के अङ्गरूप—मुद्रा, पीठ, न्या, पूजा विधान उत्तर कर्मरूप जप विधान तथा इनके ही सहयोगी कर्म व्यवस्थित रूप से सम्पन्न हों, अत: उनके विधि पुरस्कार सम्पादन से साध्य की पूर्ति तक पहुँचने के मार्ग को पूर्ण रूप से परिष्कृत किया है।

तान्त्रिक वाङ्मय की विविधता का मूल लोक परम्परा से भी जुड़ा हुआ है। विशाल आस्तिक जन समुदाय 'भिन्नरुचिर्हि लोक:' के अनुसार रुचि, सुविधा और समय के साथ उत्तरोत्तर विकास की यात्रा में जो व्यापकता आई है, वह इसकी विशिष्टता का आधार है और यह अनेक नामों सेभी व्यवहृत होती रही है।

'मन्त्र' और 'विद्या' शब्द अन्य तन्त्रों में क्रमश: पुरुष देवतात्मक 'मन्त्र' और स्त्री देवतात्मक 'विद्या' के रूप में गृहीत है। जैन तन्त्रों में प्रारम्भ में यह मान्यता नहीं रही और बाद में भी इस लक्षण का एकान्तत: स्वीकरण नहीं हुआ। कहा जाता है कि 'विद्याप्रवाद' में अङ्गुष्ठ प्रश्न आदि सात सौ मन्त्रों, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं तथा उनकी साधन विधियों का वर्णन था। 'राजवार्तिक' के अनुसार उसमें आठ महानिमित्तों का भी वर्णन था, जिनमें निम्नलिखित आठ विद्याएँ सङ्गृहीत थीं—

१. भौमविद्या, २. उत्पातविद्या, ३. स्वप्नविद्या, ४. अन्तरिक्षविद्या, ५. अङ्गविद्या, ६. स्वरविद्या, ७. लक्षणविद्या, ८. व्यञ्जनविद्या।

यह 'विद्या प्रवाद' ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। केवल उसके प्रकीर्ण अंश यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। अङ्गविज्जा, भैरवपद्मावती कल्प, लघुविद्यानुवाद, अष्टाङ्गनिमित्त आदि ग्रन्थों में विद्याप्रवाद के अंशों का सञ्चय हुआ है, ऐसी भी गवेषक विद्वानों की मान्यता है।

जैन तन्त्रों की यह एक विशेषता रही है कि उसके द्वारा प्रदर्शित साधना मार्ग में अधिकार की दृष्टि से कोई बन्धन नहीं रखा गया है। यह सभी साधना के इच्छुक की अर्हता को स्वीकार करता है। हाँ, यह अवश्य कहा गया है कि शुद्धता, स्वच्छता, आन्तरिक एवं बाह्य एकाग्रता, निष्ठा तथा श्रद्धा-विश्वास आदि

आवश्यक पात्रता की अवहेलना न की जाए। कर्त्तव्य, कर्म एवं कलापेक्षा में किसी की हिंसा, हानि अथवा विद्वेष प्रतीकार आदि की भावना न हो। सात्त्विक भाव तथा सात्त्विक साधनों का सदुपयोग किया जाए, यह प्रतिबद्धता ही यहाँ सफलता की कुञ्जी है।

जैन विद्या-पदान्त मन्त्र ग्रन्थ

मन्त्रात्मक साहित्य को विद्याओं के रूप में व्यक्त करने वाले लघु ग्रन्थ भी जैन धर्म में बहुत उपलब्ध है। यथा—१. मयूरवाहिनीविद्या, २. चन्द्रप्रभविद्या, ३. पार्श्वस्तम्भनीविद्या, ४. शत्रुभयनाशिनीपार्श्वविद्या, ५. परविद्यानिवारिणी-पार्श्वविद्या, ६. गान्धार विद्या, ७. चतुर्विंशतितीर्थङ्करविद्या, ८. श्रीऋषभविद्या, ९. श्रीशान्तिनाथविद्या, १०. अपराजिता महाविद्या, ११. रोगापहारिणी विद्या, १२. वासुपूज्यविद्याम्नाय, १३. सारस्वत महाविद्या, १४. श्रुतदेवन विद्या, १५. अपराजिता विद्या, १६. ब्रह्मविद्या (कल्प), १७. उग्रविद्या (कल्प), १८. पञ्चपरमेष्ठिविद्या तथा १९. वर्धमानविद्या।

इसी प्रकार आम्नायपदान्त मन्त्र ग्रन्थ भी जैनाचार्यों ने बनाये हैं। यथा—१. सन्तिकरस्तवनाम्नाय, २. तिजयपहुन्तस्तोत्राम्नाय, ३. चिन्तामणिमन्त्राम्नाय, ४. श्रीपार्श्वनाथकल्पद्रुम आम्नाय, ५. गीर्वाणचक्रस्तोत्राम्नाय, ६. भक्तामरस्तोत्राम्नाय, ७. कल्याणमन्दिरस्तोत्राम्नाय आदि।

मन्त्र विषयक साहित्य को ही मन्त्रसाधनान्त पद से भी अभिहित करते हुए कुछ ग्रन्थ लिखे गए प्राप्त होते हैं। यथा—

१. चन्द्रपन्नति मन्त्रसाधन, २. कुरुकुल्ला मन्त्रसाधन, ३. उच्छिष्टचाण्डालिनी मन्त्रसाधन, ४. कर्णपिशाचिनी मन्त्रसाधन, ५. चक्रेश्वरी स्वप्नमन्त्रसाधन, ६. अम्बिका स्वप्नमन्त्रसाधन, ७. शान्तिदेवता मन्त्रसाधन, ८. योगिनी मन्त्रसाधन, ९. यक्षिणी मन्त्रसाधन, १०. क्षेत्रदेवता मन्त्रसाधन, ११. कृष्णगौर क्षेत्रपालमन्त्र, १२. बोडिया क्षेत्रपालमन्त्र, १३. भैरवमन्त्र, १४. बटुक भैरवमन्त्र, १५. स्वर्णाकर्षण भैरव मन्त्र साधन, १६. चतुःषष्टियोगिनीमन्त्रसाधन, १७. श्रीगौतमस्वामी मन्त्र, १८. श्रीवज्रस्वामी मन्त्र, १९. श्रीजिनदनसूरि मन्त्र, २०. श्रीजिनकुशलसूरि मन्त्र, २१. श्रीजिनचन्द्र सूरि मन्त्र, २२. पञ्चपीरमन्त्रसाधन आदि।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मन्त्र साधना के रूप में जैन साधकों ने प्रसिद्ध मन्त्रवादी साधकों के मन्त्रों का भी दर्शन करके उनकी साधना विधियों को प्रकट किया है। इनके चरण युगलों की स्थापना के स्थानों को 'दादाबाड़ी' के नाम से सम्बोधित करके वहाँ उपासना की जाती है। 'वृद्धसम्प्रदाय' के सूचन से प्रमुख स्तोत्रों की व्याख्याओं के साथ उल्लिखित विशेष मन्त्र साधना के सूचक हैं। एक ही देव अथवा देवी के भिन्न-भिन्न स्वरूपों की आराधना को ध्यान में रखकर भी बहुत-सी पुस्तकों का निर्माण हुआ है। पद्मावती देवी से सम्बद्ध पुस्तकें इस प्रकार हैं—१. धरणेन्द्र पद्मावती पूजन विधि, २. रक्तपद्मावती कल्प, ३. रक्तपद्मावती वृद्धसाधन, ४. शैवागमोक्त पद्मावतीसाधन, ५. हंसपद्मावती पूजन, ६. सरस्वतीपद्मावती साधन, ७.

शबरीपद्मावती पूजन, ८. कामेश्वरीपद्मावती मन्त्र साधना, ९. भैरवीपद्मावती मन्त्र साधना, १०. त्रिपुरपद्मावती मन्त्र साधना, ११. नित्यापद्मावती मन्त्र साधना, १२. महामोहिनीपद्मावती विद्या, १३. पुत्रकरपद्मावती मन्त्र साधना, १४. पद्मावती मन्त्र साधना आदि।

एक अन्य साधना प्रकार जैन धर्मानुयायी आचार्यों ने लोक कल्याण की दृष्टि से और यहाँ विकसित किया है, वह है अवतार विद्या, अर्थात् किसी वस्तु विशेष में इष्टदेव अथवा देवी को बुलाना। इसके लिए— १. पद्मावती दीपावतार, २. पद्मावतीकज्जलावतार, ३. अम्बिकाघटावतार, ४. अम्बिकाजलावतार, ५. अम्बिकादर्पणावतार, ६. भुततदेवताघटावतार, ७. अम्बिकाखड्गावतार, ८. पद्मावतीमालावतार तथा ९. नरदर्पणावतार आदि। इन विद्याओं का उपयोग प्रश्नों के उत्तर, भविष्य तथा आकस्मिक दुर्घटनादि के ज्ञान हेतु एवं कष्ट निवारणोपाय हेतु किया जाता रहा। यह 'हाजरात' का शास्त्रीय स्वरूप है। आज भी कुछ साधक इनका सफल प्रयोग करते देखे गये हैं। प्रयोगकर्त्ता पहले मन्त्र सिद्ध करता है और समय आने पर प्रयोग करके पृच्छक को उत्तर देता है।

जैन यन्त्रात्मक साधना साहित्य

साधना विधानों में यन्त्रों का महत्त्व सर्वमान्य रहा है। जैन साधकों की रुचि इस ओर भी पूर्ण विश्वासात्मक होने के कारण अनेकविध यन्त्रों की रचनाएँ जैन परम्परा में प्रवर्तित हैं। यन्त्रों को यहाँ 'मण्डल' भी कहा गया है। १. रेखात्मक यन्त्र, वृत्त रूप, कमलाकृति और कलशाकृति के यन्त्र विशेष महत्त्व रखते हैं। अङ्क यन्त्र, बीजाक्षर गर्भ, मन्त्राक्षर गर्भ, अङ्क एवं मन्त्र बीज गर्भ यन्त्र भी जैनाचार्यों ने शास्त्रीय पद्धति से प्रतिपादित किए हैं। इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र्य ग्रन्थों की अपेक्षा टीकाओं में विशेष उल्लेख किया हुआ प्राप्त होता है। यन्त्र के लिए 'चक्र' का प्रयोग भी जैनाचार में बहुप्रचलित है।

शरीरस्थ षट्चक्र एवं सहस्रार चक्र की भावना को तथा उनमें विराजमान मातृकाक्षर और मन्त्राक्षरों के ध्यान की क्रिया को स्थिर रूप देने के लिए यन्त्र अथवा चक्र रचना को विशेष प्रोत्साहन मिला हो, ऐसी धारणा मन्त्रों की पूर्व भूमिका के लिए मन्तव्य है। वैसे बिन्दु से और ॐकार से अथवा वर्णमाला के आकारों से यन्त्र निर्माण में प्रेरणा मिली होगी। अनुष्ठान विधानों में 'मण्डल' और 'पट' बनाने/रखने का विधान भी बहुप्रचलित है। इससे भी यन्त्र निर्माण का प्रचलन सम्भव है। जो भी हो, इस देवतागात्र रूप यन्त्र विधान को सभी अन्य धर्मावलम्बियों के समान जैनाचार्यों ने भी ससम्मान स्वीकृति दी है तथा रचना, अर्चना, धारण आदि क्रियाओं पर ग्रन्थों का निर्माण भी हुआ है। कुछ ग्रन्थ इस प्रकार है—

१. निर्वाणकलिका पादलिप्तसूरि वि.सं. १५०—यह ग्रन्थ नित्य कर्म, दीक्षा और प्रतिष्ठा नामक तीन विषयों को लेकर तीन विभागों में विभक्त है। इसमें नित्य पूजा के प्रसङ्ग से 'सिद्धचक्रयन्त्र' का स्मरण किया गया है और तत्सम्बन्धी निरूपण भी दिया है। द्वितीय प्रकरण में 'सर्वतोभद्रमण्डल' का विधान है। यहीं वास्तु मण्डल का भी सूचन है, जो 'यन्त्र' का पूर्वाभास कराता है।

२. वर्धमान चक्रोद्धार विधि—भद्रगुप्तस्वामी (१)—यह अरिहाणाइ-थुत्त (अर्हदादि-स्तोत्र) में प्रोक्त 'पञ्चनमस्कारचक्र' के उद्धार विधि का सूचक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने स्वरचित 'बृहद् वृत्ति' से इस उद्धार को लिखा है तथा 'श्रीपञ्चपरमेष्ठि महामन्त्रयन्त्रचक्रवृत्ति' कह कर इसे सङ्गृहीत किया है। इसके अपरनाम पञ्चपरमेष्ठिचक्र, पञ्चनमस्कारचक्र और वर्धमानचक्र भी प्रसिद्ध है। १. ध्यनविधि, २. आत्मरक्षा, ३. षट्कर्मकरणविधि, ४. पल्लव काल वर्ण मण्डल दिग्विचार, ५. जपविधि, ६. ध्यानविधि (देवतानामादि सङ्केतसहित) और ७. मानसी पूजा—इन सात विधानों का मन्त्रादि निर्देश भी इसमें यथाक्रम दिया गया है। यन्त्रलेखनविधि में "अष्टारमष्टाववं पञ्चनमस्कारचक्रं भवति। चक्रतुम्बे साधकनामगर्भ 'अर्हं' इत्येतदक्षरं लिखेत्" इत्यादि कहकर पूरे चक्र में जिन स्थानों पर जो-जो मन्त्र लिखे जाते हैं, उनका पाठ स्पष्ट दिया है। जहाँ सम्प्रदाय विशेष के आधार पर विशेष सङ्केत थे, वे भी यहाँ सूचित हैं। यन्त्र की महिमा बताते हुए यहाँ कहा गया है—

कार्यकारणे तूत्पन्नं मण्डलमध्यसंस्थितम्।
पूजयेद् यः सदा यन्त्रं स देवैरपि पूज्यते।।

३. सिद्धचक्र-बृहद्यन्त्राराधनविधि—पूजन यन्त्रों में जैन साधकों के लिए श्रीनवपदजी का यन्त्र प्रथम स्थान को प्राप्त है। इसी को 'सिद्धचक्र' कहा जाता है। इसकी आराधना के लिए अनेक पाण्डुलिपियाँ भण्डारों में उपलब्ध है। यन्त्र रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमें सिद्धों का निवास माना गया है और वे पूजित होकर सभी मुमुक्षुओं की वाञ्छापूर्ति करते हैं। मध्य में वर्तुल, उस पर अष्ट कमल दल और उस पर तीन वर्तुलाकार अङ्कित होने से यह यन्त्र बनता है। मध्यम में अरिहन्त भगवान् की सिंहासनस्थ मूर्ति, दिग्दलों में सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु तथा विदिग्दलों में दर्शन, ज्ञान, चरित्र एवं तप रूप मन्त्रों की स्थापना होती है। तदनन्तर तत्त्वाक्षर 'ह्रीं' आदिबीजाक्षर, वर्णमातृका के १६ स्वर, ककारादि सात वर्ग, २८ लब्धियाँ, ८ गुरु पादुका, १० दिक्पाल, २४ यक्ष-यक्षिणी, १८ अधिष्ठायक देव, १६ विद्या देवियों, लोकपाल, विमलेश्वर देवता, चक्रेश्वरी देवी, नवग्रह, नवविधान आदि देवता विराजमान होते हैं। सिद्धचक्र को कल्पवृक्ष मानकर प्रार्थना में मनोवाञ्छापूर्ति की कामना की जाती है।

इस सिद्धचक्र यन्त्र की विशेष पूजा विधि है। इसकी यन्त्र रचना के पट सैकड़ों वर्षों से आलिखित होते रहे हैं, जिनमें लेखनजन्य त्रुटियाँ भी आ गई हैं, जिनके परिहार के लिए आचार्य श्री धर्मधुरन्धर सूरिजी ने तथा आचार्य श्री यशोदेव सूरिजी ने 'सिद्धचक्रयन्त्र पूजन : एक सर्वेक्षण अने समीक्षा' पुस्तक लिखकर शास्त्रीय प्रमाणों के साथ वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डाला है। 'सिरीवाल कहा' के अनुसार मैना सुन्दरी ने इस यन्त्र की आराधना की थी। दिगम्बर सम्प्रदाय में यह यन्त्र केवल अष्टदल कमल के रूप में ही मान्य है।

४. श्रीऋषिमण्डलस्तव-यन्त्रालेखनम्—श्री सिंहतिलकसूरि द्वारा ३६ पद्यों में यह स्तव रचित है। इसमें मुख्यतः यन्त्र रचना पर विशेष निर्देश है। इससे पूर्व 'ऋषिमण्डलस्तोत्र' नामक ९८ पद्यरूप अतिविस्तार से

इस यन्त्र विधान का प्रकाशक ग्रन्थ था, उसी के आधार पर कुछ परिष्कार सङ्क्षेपपूर्वक सिंहतिलक सूरि ने इस आलेखन सूचक स्तव की रचना की। इसी स्तोत्र के आधार पर दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्याभूषण सूरि ने अन्य 'ऋषिमण्डल स्तोत्र' की ८५ उपजाति वृत्तों में रचना की है।

इस मन्त्र में 'ह्रीं' अधिनायक है। मध्य में इस बीज की स्थापना है। बीज में सर्वोपरि बिन्दु है, जिसमें मुनि सुव्रत और नेमिनाथ का नमस्कारात्मक मन्त्र लिखा जाता है। चन्द्रलेखा में चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त वन्दित हैं। ह्रींकार के शिरोभाग में पद्मप्रभ एवं वासुसूज्य, दीर्घ ई में मल्लिपार्श्वनाथद्वय, शेष अक्षराकार में ऋषभ आदि १६ तीर्थङ्करों के नाम मन्त्र पूज्य हैं। वर्तुल मण्डल पर अन्य पाँच मण्डल होते हैं, जिनमें प्रथम मण्डल के ८ भाग हैं, जिनमें १६ स्वर तथा सप्त वर्गाक्षर हसलवरयूं आदि कूटबीजों के साथ लिखे जाते हैं। द्वितीय मण्डल के आठ भागों में अर्हदादि ५ तथा ३ दर्शनों के नाम मन्त्र, तृतीय मण्डल के आठ भागों में भुवनेन्द्रादि १६ पद, चतुर्थ मण्डल के २४ भागों में २४ ह्रीं आदि देवियों के मन्त्र, पाँचवें मण्डल के चारों ओर ४ बीज तथा बीच में ह्रीं बीज मन्त्र लिखकर यन्त्र पूर्ण किया जाता है। ऋषिमण्डल यन्त्र का मूल मन्त्र ९ बीजाक्षर तथा १८ शुद्ध वर्णों का है। यथा—ॐ ह्रीं ह्रीं हुं हूं हैं हौं हः असि आउसा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यो नमः।

५. **श्रीपञ्चपरमेष्ठि-विद्यायन्त्र**—श्री सिंहतिलकसूरि ने इस यन्त्र की रचना में तीन प्राकार, क्रमशः ४, ८ और १६ पत्रों वाले कमल तथा कमलकर्णिका के आलेखन बतलाये हैं। मध्य में 'अर्हं' बीज, ऊर्ध्वादि चार कमलपत्रों में 'सि आ उ सा' तथा चारों दिशाओं में—'ऋषभ, वर्धमान, चन्द्रानन, वारिषेण' लिखे जाते हैं। फिर आठ दलों में जिनेश्वर-युगादिनाथ, गोमुखयक्ष, चक्रेश्वरी के नाम लिखने का निर्देश है। सभी नाम चतुर्थ्यन्त, नमोऽन्त एवं प्रणव सहित लिखे जाते हैं। यहीं एक अन्य यन्त्र बनाने का विधान भी दिया है, जो 'सूरिमन्त्र' तथा 'वर्धमान-विद्या' के यन्त्रों के समान है। इस यन्त्र में एक ओर पुस्तक तथा कमल से सुशोभित श्रुतदेवी की आलेखना करने का और कमलाकृति के बाहर भूमण्डल पर रजत, स्वर्ण और रत्नमय तीन प्राकारों की रचना का उल्लेख है। प्राकारत्रय में जाज्वल्यमान रत्नों वाले ध्वज एवं तोरण से शोभित चार द्वार बनाने का सङ्केत दिया है। भूमण्डल की चारों दिशाओं में और विदिशाओं में 'ल' अक्षर की आकृति बनाकर कलश से अलङ्कृत ऐसे मण्डल को 'वं' अक्षरों के साथ लिखना चाहिए। अन्त में यन्त्रपूजा विधि और फल का सूचन है। यह ७८ पद्यों का सन्दर्भ है।

६. **लघुनमस्कारचक्रस्तोत्र**—श्री सिंहतिलक सूरि ही इस स्तोत्र के भी लेखक हैं। स्तोत्र द्वारा चक्र निर्माण की विधि का सूचन इस स्तोत्र से हुआ है। इसमें आठ अरों तथा आठ वलयों की प्रमुखता है मध्य तुम्ब में 'अर्हं' बीज लिखा जाता है। अरों के बीच में 'ॐ नमो अरिहंताणं' आदि चार पद दो बार आवर्त करके लिखने की सूचना है। शेष रिक्त अरों में 'पाश, अङ्कुश, अभय और वरद' ये आयुध और मुद्रा लिखी जाती हैं। प्रथम वलय में 'ॐ नमो लाए सव्स साहूणं' पद भी लिखना चाहिए। द्वितीय वलय में 'चत्तारि

मङ्गलं' इत्यादि द्वादशपदी, तृतीय वलय में ॐ तथा माया ह्रीं पूर्वक ७० वर्ण और जिन बीज अर्हं के आश्रयभूत ५ बीजाक्षर 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं' लिखने चाहिए।

इस विधि से लेखन करके की जाने वाली आराधना का फल भी इसी स्तोत्र में प्रदर्शित है। स्तोत्र में ११५ पद्य हैं। इससे कुछ अधिक विस्तार वाले 'बृहन्नमस्कारचक्र' की विधि भी प्राप्त होती है।

७-८ ॐकार तथा ह्रींकार यन्त्र।

जैनाचार्यों ने ॐ तथा 'ह्रीं, अहं' आदि बीजों की स्वतन्त्र उपासना के लिए चक्र अथवा यन्त्र बनाने के निर्देश भी स्तोत्रों के माध्यम से प्रदर्शित किए हैं, जिन्हें 'ॐकारविद्यास्तवनम्' तथा श्री जिनप्रभसूरि विरचित 'मायाबीजह्रींकारकल्प' से ज्ञात कर सकते हैं।

९. श्रीपद्मावती साधन यन्त्र—श्रीपार्श्वनाथ भगवान् तथा धरणेन्द्र पद्मावती की अधिष्ठायकता वाले अनेक यन्त्र बनते हैं। उनमें से एक सिद्धि-सिद्धिदायक यन्त्र इस प्रकार है—यन्त्र के मध्य में वर्तुल होता है, उसमें षट्त्रिकोणाकार पंखुड़ियाँ और मध्य में षट्कोण बनता है। षट्कोण में माता पद्मावती की चतुर्भुज मूर्ति पाश, फल, वरद और गजाङ्कुश सहित बनाई जाती है। ॐकार में श्रीपार्श्वनाथ की मूर्ति चित्रित की जाती है, जिसमें उनके मस्तक पर छत्र रहता है।

षट्कोण की पंखुड़ियों में 'ॐ ह्री ह्रैं ह्स्क्लीं पद्मे पद्मकटिनि नम:' मन्त्र पद लिखे जाते हैं। इनके ऊपरी भाग में अ से अ: तक के स्वर तथा क से ह तक के व्यञ्जन लिखते हैं। ऊपर के मण्डल में पद्मवर्णा आदि पद्मावती के आठ नाम मन्त्र लिखकर त्रिवलय रूप भूपुर और उसमें मध्य वर्तुलाकार चार द्वार बनाये जाते हैं। इनमें भी मन्त्र पद बीज सहित लिखे जाते हैं। इनका लेखन क्रम वामावर्त और दक्षिणावर्त है। मन्त्र पदों में दिक्पाल, उत्कृष्ट देवियाँ आदि मान्य हैं।

१०. चिन्तामणि यन्त्र—यह भी धरणेन्द्र पद्मावती सहित श्रीपार्श्वनाथ प्रभु की स्थापना से मण्डित यन्त्र सर्वमान्य है। इसमें भी पूर्ववत् देव देवियों तथा वर्ण मातृका बीज मन्त्रादि का लेखन होता है। विशेष में यन्त्र के चारों ओर ऊपर 'क्षं ह्रीं अहं' आदि ४८१०२ वर्णों की स्थापना रहती है। इस यन्त्र में मूल मन्त्र 'नमिऊणं' चतुष्कोण के चारों ओर लिखने का विधान है।

इस प्रकार यन्त्र संरचना के सम्बन्ध में जैन धर्म की मान्यता, पूजा पद्धतियों और प्रयोग प्रकारों का बाहुल्य पूर्णत: व्याप्त है।

यन्त्रोद्भावक स्तोत्र

इन यन्त्रों की व्यापकता और भी दृष्टियों से बढ़ी है, जिसे हम स्तोत्रों के पद्यों के आधार पर बने सम्प्रदायों में पाते हैं। उदाहरणार्थ कतिपय स्तोत्रों का परिचय प्रस्तुत है—

१. उवसग्गहरस्तोत्र—भद्रबाहु स्वामी द्वारा यह स्तोत्र श्रीसङ्घ में महामारी का उपद्रव शान्त करने के लिए बनाया गया था। इनका समय वि.सं. की छठी शती माना जाता है। ये वराहमिहिर के ज्येष्ठ भ्राता थे। यह स्तोत्र ५ गाथाओं का है, किन्तु इसमें कालक्रमानुसार गाथाओं की संख्या बढ़ती गई और ७, ९, १३, १७, २१ और २७ तक यह बढ़ गया। इसमें धरणेन्द्र पद्मावती सहित भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति है। 'उवसग्गहरं पासं' पद से इसका आरम्भ होने के कारण इसका नाम भी उसी के आधार पर प्रचलित हो गया। इसकी दूसरी गाथा में 'विषधरस्फुलिङ्गमन्त्र' का सङ्केत हुआ है तथा इसी मन्त्र में अन्य बीजाक्षर तथा पल्लव आदि जोड़कर भिन्न-भिन्न मन्त्र भी बनाये गये हैं, जिनका अनुष्ठान विभिन्न कार्यों के लिए होता है।

इस स्तोत्र पर श्री जिनप्रभसूरि ने 'अर्थकल्पलता' श्री पार्श्वदेवगणि ने 'लघुवृत्ति' तथा श्री पूर्णचन्द्राचार्य ने 'बृहद्वृत्ति' नामक व्याख्या लिखी है। इनमें प्रत्येक गाथा के मन्त्र और यन्त्रों का उल्लेख किया गया है। इसकी प्रथम गाथा के आधार पर आठ मन्त्र बनाने के और उनकी साधना के विधान है, यथा—१. जगद्वल्लभकर यन्त्र, २. सौभाग्यकर यन्त्र, ३. लक्ष्मीवृद्धिकर यन्त्र, ४. भूतादिनिग्रहकर, ५. ज्वरनिग्रहकर, ६. शाकिनीनिग्रहकर, ७. विषमविषनिग्रहकर तथा ८. क्षुद्रोपद्रवनाशकर यन्त्र। दूसरी गाथा से २ बृहद् यन्त्र विविध वलय युक्त, तीसरी गाथा में—१. वन्ध्याशब्दापह यन्त्र, २. मृतवत्सादोषनिवारण यन्त्र, ३. काकवन्ध्यादोषनिवारण यन्त्र, ४. बालग्रहपीड़ानिवारण यन्त्र, ५. सौभाग्यकर यन्त्र का विधान है। चौथी गाथा में—१. लघुदेवकुल यन्त्र, २. शान्तिक-पौष्टिक यन्त्र निर्दिष्ट हैं। पहली गाथा से आगे नौ गाथाओं तक एक विशिष्ट यन्त्र बनता है, उसे स्तोत्र के अक्षर तथा अङ्कों को लिखकर बनाया जाता है। एक यन्त्र १००८ अंकों का है और पट के नीचे सूचन है कि यह उपसर्गहर यन्त्र न्यायविशारद उपाध्याय श्री यशोविजय जी द्वारा अनुभूत है। दक्षिण में दिगम्बर सम्प्रदाय में जो 'कलिकुण्डलपार्श्वनाथ यन्त्र' की आराधना होती है, वह भी इसी स्तोत्र से प्रेरित है।

२. कल्याणमन्दिरस्तोत्र, सिद्धसेनदिवाकर—विक्रम की प्रथम अथवा छठी शती में उत्पन्न वृद्धवादी आचार्य के शिष्य श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने ४४ पद्यों में इस स्तोत्र की रचना की है। इसमें पार्श्वनाथ की स्तुति है। इस पर १६ आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं तथा वृद्ध सम्प्रदाय के अनुसार पद्यों के मन्त्र-यन्त्र विधान भी रचित हैं।

३. अनुभवसिद्धयन्त्रद्वात्रिंशिका, श्री भद्रगुप्तसूरि—यह विक्रम की सातवीं शती में श्री भद्रगुप्तसूरि द्वारा रचित है। इसमें सूरिमन्त्र-यन्त्र तथा अन्य अनेक यन्त्रों का विधान सूचित है।

४. भक्तामरस्तोत्र—श्रीमानतुङ्ग सूरिकृत यह स्तोत्र अति प्रसिद्ध है। इसके प्रत्येक पद्य से मन्त्र बनते हैं और वृद्ध सम्प्रदायानुसार उनके विधान बने हैं। सौन्दर्यलहरी की समानता में इसकी मान्यता है।

५. भत्तिब्भर थोत्त—प्राकृत में रचित यह स्तोत्र भी श्री मानतुङ्ग सूरि द्वारा रचित है। इसमें मन्त्र और यन्त्रों के विषय में अनेक निर्देश हैं तथा गाथाओं के आधार पर भी यन्त्र बनते हैं।

६. **महाप्राभाविक पद्मावतीस्तोत्र**—यह ३७ पद्यों का प्राचीनाचार्य रचित स्तोत्र है। इसके प्रत्येक पद्य से वृद्ध सम्प्रदाय के अनुसार यन्त्र बनते हैं।

जैन अङ्कात्मक यन्त्र

जैन यन्त्रों के आकार और प्रकार में इतनी विविधता है कि उनका एकत्र सङ्क्षेप में विवेचन करना कठिन है। केवल कोष्ठकों में बीजाक्षर, मन्त्राक्षर, पिण्डाक्षर आदि लिखकर बृहद् और लघु यन्त्र तो बनते ही थे, तदनन्तर अङ्क यन्त्रों का भी विकास हुआ। गणित के आधार पर अङ्क योजना से भी सभी ओर अङ्क योग करने से एक ही निश्चित संख्या का आ जाना अपने आपमें एक वैशिष्ट्य है। उस पर भी वे अङ्क देवनाम संख्या से, देव मन्त्रों से समन्वित हों, तो वे और भी महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं।

पञ्चदशाङ्क और विंशाङ्क यन्त्रों के विधान वैदिक धर्मानुसार भी मान्य है। उनके शास्त्रीय विधानों की विविधता भी स्वतन्त्र तन्त्र ग्रन्थों में मिलती है। उसी प्रकार जैन धर्म के अनुसार भी अङ्क यन्त्रों के विधान प्रवर्तित हैं। इनके लिए ग्रन्थ और स्तोत्र भी प्राप्त होते हैं। यथा—

१. **कोट्ठगचिन्तामणि**—यह प्राचीन आचार्य श्री देवेन्द्रगणि की कृति है। इसमें अङ्क यन्त्रों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया गया है। यन्त्रों के ४ नाम दिये हैं—१. महासर्वतोभद्र, २. अतिसर्वतोभद्र, ३. सर्वतोभद्र तथा ४. सामान्यभद्र। इनमें अङ्क स्थापना के परिशोधन के प्रकार भी दिखाये गये हैं। पैंसठिया यन्त्र की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"पञ्चसप्ततिप्रकारेण महासर्वतोभद्रयन्त्रोऽयं शोध्यः" अर्थात् इस यन्त्र का ७५ प्रकारों से शोधन करना चाहिए, तभी यह 'महासर्वतोभद्र' होगा। इसी प्रकार १५, २० के यन्त्र भी शोधित होते हैं। अङ्कों के स्थान परिवर्तन से अन्य प्रकार बन जाते हैं। 'अर्जुनपताका' में ये निर्दिष्ट हैं। २४, ३०, ३२, ३६, ४०, ६५, ७०, १००, १०८ और इनसे आगे की संख्याओं के भी यन्त्र इसमें निर्दिष्ट हैं। विजय यन्त्र और विजय पताका यन्त्र के कोष्ठकों की संख्या तो ६५६१ तक पहुँची है। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

२. **विंशतियन्त्रविधि**—यह महोपाध्याय मेघविजयगणि की कृति है। इसके प्रथम पद्य में अर्जुन पताका और विजय यन्त्र के बारे में कथन करके पन्द्रह अङ्कों को विविध रूप से बताया है। इसी में अन्य अङ्क यन्त्रों के बनाने की विधि दी है। अङ्कों की आवृत्ति तथा एकाधिक अङ्कों की स्थिति को महत्त्वपूर्ण नहीं माना है। सिद्धविंशति अङ्क यन्त्र के अनेक प्रकार दिए गए हैं तथा नौ कोष्ठकों में नौ अङ्क (अकेले) लिखकर उनकी २० गणना लाने के लिए बीस गतियों, प्रकारों का निर्देश किया गया है, जिनमें किसी एक अङ्क का गुणा और अन्य का योग होता है। 'कमलाकृति बीसा यन्त्र' में त्रिस्थानि दिग्गति और विदिग्गति, परिधिसव्य और परिधिसव्येतर गतियों का उल्लेख किया है। इसे पद्य और गद्य दोनों में स्पष्ट किया गया है।

३. **सप्ततिशतजिनपतिसंस्तवन**—विक्रम की १५वीं शती के हरिभद्र मुनि की यह रचना है। इसमें १५ पद्य हैं तथा उनसे १७० जिनेश्वरों की स्तुति की गई है। इसके नौवें तथा दसवें पद्य में यन्त्र की विधि वर्णित है, जबकि ११वें पद में राजवशीकरण का मन्त्र 'हर हुं ह: सर सुं स: ॐ ह्रीं ह्रीं हुं फट् स्वाहा' भी सूचित है।

४. **पञ्चषष्टियन्त्रगर्भित-चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र (प्रथम)**—जयतिलकसूरि के 'शिवनिधान' नामक शिष्य ने यह स्तोत्र बनाया है। आठ अनुष्टुप पद्यों में पैंसठिया यन्त्र से गर्भित ऋषभादि चौबीस तीर्थङ्करों की यहाँ स्तुति की गई है।

५. **पञ्चषष्टियन्त्रगर्भित-चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र (द्वितीय)**—अज्ञातकर्तृक यह स्तोत्र विक्रम की १५ शती की रचना है। यह भी महासर्वतोभद्र पैंसठिया यन्त्र का बोधक है। 'कोट्ठगचिन्तामणि' की संस्कृत टीका में शीलसिंह ने इसका उल्लेख किया है।

६. **पञ्चषष्टियन्त्रगर्भित-चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र (तृतीय)**—इस स्तोत्र को विक्रम की १६वीं शती में शीलसिंह ने बनाया है। पूर्ववत् इसमें भी जिनेश्वर स्तुति और यन्त्र सूचन हैं।

७. **पञ्चषष्टियन्त्रगर्भित-चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र (चतुर्थ)**—यह मुनि जैलसिंह की रचना है। इसमें भी पूर्ववत् ६५ अङ्कों के यन्त्र का विधान अङ्कित है।

८. **चतुर्यन्त्रगर्भित-पञ्चषष्टिस्तोत्र**—विजयलक्ष्मीसूरि ने ११ शार्दूलविक्रीडित छन्दों में यह स्तोत्र बनाया है। इसमें भी पूर्ववत् ६५ अङ्कों के यन्त्र का विधान अङ्कित है।

जैन आचार्यों ने यन्त्र विद्या को पल्लवित एवं पुष्पित रखने के लिए अनेकविध प्रयोग किए हैं। अत: जैन तन्त्र के विकास में उनका अपूर्व योगदान माना जाता है।

बहुत-से आचार्यों ने तो समय आने पर आवश्यकता के अनुरूप साधनाएँ करके देवताओं से मन्त्र-यन्त्रात्मक विद्याएँ भी प्राप्त की थीं। यथा—श्री हरिभद्र सूरि के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि इनको देवताओं के पास से कुछ 'रहस्य ग्रन्थ' प्राप्त हुए थे। उन्होंने इन ग्रन्थों का उपयोग दिगम्बर आचार्यों पर विजय प्राप्त करने के लिए किया था। विजय प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने 'चौरासी' नामक प्रासाद के स्तम्भ में आदरपूर्वक इनको रखवा दिया। यह स्तम्भ विशेष औषधियों द्वारा निर्मित था। 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' में यह उल्लेख मिलता है।

अत: ऐसे बहुत-से ग्रन्थ अब अनुपलब्ध होते जा रहे हैं। अन्य अनेक आचार्य प्राचीनकाल में मन्त्रधारी थे और उन्होंने मन्त्र-यन्त्र साधना द्वारा लोक कल्याण किया था। तन्त्र की प्रक्रिया में मन्त्र के प्रयोगों का विधान भी अनेक प्रकार का है। 'जैसा काम वैसा प्रयोग' इस दृष्टि से प्रत्येक प्रयोगकर्त्ता नये-नये आकर्षक प्रयोग करके जनसाधारण को उत्प्रेरित करता है। बहुधा यह भी कहना अनुचित नहीं है कि ऐसे प्रयोगों में वैज्ञानिकता का भी पूरा समावेश रहता है।

जैन कल्प साहित्य

वेद के छह अङ्गों में द्वितीय अङ्ग को 'कल्प' कहा गया है। इसमें यज्ञों और संस्कारों की विधियाँ वर्णित हैं। इसी के आधार पर धार्मिक कर्त्तव्यों के विधि-विधानों का संग्राहक ग्रन्थ 'कल्प' माना जाने लगा। जैन धर्म में इसका अर्थ और भी विस्तृत हुआ तथा वैदिक कल्पसूत्रों की समानता में वैदिक यज्ञादि तथा गृहस्थों के गृह्य विधानों के संग्रह रूप ग्रन्थों के अनुसार ही प्रारम्भ में 'कल्प ग्रन्थ' जैन परम्परा के अनुरूप 'विश्व की स्थिति' के परिचायक बने। नेमिचन्द्र सूरि के 'पवयणसारुद्धार' पर सिद्धसेन सूरि ने (वि.सं. १२४८ में) एक वृत्ति की रचना की थी, उसमें उन्होंने ऐसा उल्लेख किया है। वहीं (गाथा क्र. १२१९-१२२७ में) १. नैसर्प, २. पाण्डुक, ३. पिङ्गलक, ४. सर्वरत्न, ५. महापद्म, ६. काल, ७. महाकाल, ८. मानवक तथा ९. शङ्ख नामक नौ निधियों के माध्यम से अनेकविध वस्तुओं के लक्षण, उपयोग विधि एवं फलाफल का विवेचन किया है। इन्हीं को वहाँ 'शाश्वत कल्प' की संज्ञा दी गई है।

स्पष्ट है कि कल्प ग्रन्थों की पूर्व भूमिका के प्रस्थापक ये ग्रन्थ उत्तरवर्ती कल्प ग्रन्थों की रचना में अवश्य ही प्रेरणादायी रहे। कल्प शब्द व्याकरण में 'ईषदसमाप्तौ कल्पपृदेश्यदेशीयर:' सूत्र के द्वारा प्रत्यय के रूप में 'अल्प और असमाप्ति' के अर्थ का बोधक होता है। यही कारण था कि 'सङ्क्षेपार्थ' अथवा 'एकाङ्ग' के अर्थ को भी इस शब्द ने आत्मसात् किया। फलत: 'कल्प' शब्द देव, देवी, यक्षी और औषधि आदि के तान्त्रिक अनुष्ठानों की तथा उनके द्वारा प्रयोगों की पद्धति के संग्रह का बोधक ग्रन्थ नाम बन गया, जिसमें सङ्क्षेप में तत्त्व रूप से सभी उपयोगी सामग्री सङ्कलित होती थी।

जैनाचार्यों ने ऐसे अनेक कल्पों की रचना और सङ्कलन प्रस्तुत किए हैं, उनका यथोपलब्ध परिचय इस प्रकार है—

१. ज्वालिनीकल्प इन्द्रनन्दी वि.सं. ९ मन्त्रवादात्मक—द्राविड सङ्घ के हर्षनन्दी के शिष्य श्री इन्द्रनन्दी ने इस ग्रन्थ को ऐलाचार्य की कृति के आधार पर प्राय: ५०० श्लोक प्रमाण में कृष्णराज तृतीय के राज्य 'मालखेट' में बनाया है। इस ग्रन्थ के चार नाम प्राप्त हैं—१. ज्वालिनीकल्प, २. ज्वालामालिनीकल्प, ३. ज्वालिनीमत और ४. ज्वालिनीमन्त्रवाद। यह दस अधिकारों में विभक्त है, जिनमें क्रमश: मन्त्री, ग्रह, मुद्रा, मण्डल, कटुतैल, यन्त्र, वश्यतन्त्र, वसुधारास्नपनविधि, नीराजनविधि एवं स्नपनविधि का वर्णन है। ज्वालामालिनी देवी चन्द्रप्रभस्वामी की अधिष्ठात्री है और महाप्रभावी है। इस रचना में कर्त्ता ने अपनी गुरु परम्परा का भी उल्लेख किया है, जिनसे यह विद्या उन्हें प्राप्त हुई है।

२. ज्वालिनीकल्प दि. मल्लिषेणसूरि वि.सं. ११९०—इसमें ज्वालिनी देवी से सम्बद्ध मन्त्रादि का विषय प्रतिपादित है। कर्त्ता की अन्य रचना (जैन) महापुराण प्रसिद्ध है। विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है।

३-५. ज्वालामालिनीमन्त्राम्नाय, ज्वालामालिनीविद्या और ज्वालिनीविधान—नामक अज्ञातकृर्तक तीन अन्य कृतियाँ भी पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त हैं, जिनका उल्लेख सूचियों में मिलता है।

६. **भैरवपद्मावतीकल्प दि. मिल्लषेण वि.सं. ११९०**—दिगम्बर जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण का यह ग्रन्थ जैन सम्प्रदाय में मन्त्रवाद की नींव को सुदृढ़ करने वाला तथा विस्तार देने वाला कहा जाता है। यह पद्यात्मक ग्रन्थ दस परिच्छेदों में विभक्त है तथा इसमें ३०८ पद्य हैं। प्रत्येक परिच्छेद में क्रमश: साधक की योग्यता, न्यास, सकलीकरण, पूजा-पद्धति, यन्त्र, विविध मन्त्र, विद्या, स्तम्भन आकर्षणादि विधानों का वर्णन हुआ है। मुख्यत: भैरवी-पद्मावती से सम्बद्ध मन्त्रादि सङ्कलित हैं। इस ग्रन्थ की एक टीका बन्धुषेण ने की है। वहीं 'कल्प' का अर्थ 'मन्त्रवाद समूह' किया है, जो यथार्थ है। तन्त्र ग्रन्थों के समान इसके अन्तिम परिच्छेदों में भविष्य कथनोपयोगी दर्पण, दीप और खड्गावतार के प्रयोग, औषधि, चूर्ण और गारुड़ी विद्या का सङ्कलन भी दर्शनीय है। टीकाकार ने प्राकृत मन्त्रों का उल्लेख तथा दुर्गम स्थलों का स्पष्टीकरण करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें मूल ग्रन्थ के अतिरिक्त भी जोड़ी हैं।

७. **भारतीयकल्प अथवा सरस्वतीकल्प दि. मल्लिषेणसूरि वि.सं. ११९०**—इसके रचयिता भी पूर्वोक्त महापुराणकार ही हैं। इस कल्प में ७८ पद्य एवं बीच-बीच में गद्यात्मक लेखन है। सरस्वती के मन्त्र एवं ह्रींकार मन्त्र से सम्बद्ध साधना विवरण इसका प्रमुख विषय है।

८. कामचाण्डालिनीकल्प अथवा सिद्धायिकाकल्प दि. मल्लिषेण वि.सं. ११९०—पूर्वसूचित मल्लिषेण सूरि की यह रचना है। इसमें ५ अधिकार हैं। सिद्धायिका देवी से सम्बद्ध मन्त्र-यन्त्रादि इसमें दर्शित हैं।

९. **हेमकल्प पादलिप्तसूरि वि.सं. प्रथम-द्वितीय शती**—यह पादलिप्तसूरि रचित 'महावीर स्तव' के 'गाहाजुऊलेण' से आरम्भ होने वाले चार पद्यों का स्वोपज्ञ आम्नाय है। इसमें सुवर्ण निर्माण की विधि का वर्णन हुआ है। यह 'महावीर स्तव' सुवर्णसिद्धिगर्भित सात पद्यों का है। इसकी टीका वाचक पुण्यसागर ने संस्कृत में वि.सं. १७३९ में लिखी है।

१०. **उग्रवीरकल्प अज्ञातकर्तृक**—यह नृसिंहमन्त्र से सम्बद्ध कल्प है तथा अन्त में उच्चारण आदि के मन्त्र भी दिए गए हैं।

११. **मन्त्राधिराजकल्प सागरचन्द्र वि.सं. १२५०**—इस ग्रन्थ में पाँच पटल हैं, जिनमें ४२४ पद्य हैं। प्रथम पटल में मङ्गलाचरण के पश्चात् 'मन्त्रप्रदानविधि' वर्णित है। अन्य पटलों में जितेन्द्रमन्त्र वर्णन, पार्श्वनाथ स्तुति, यक्ष वर्णन, यक्षिणी वर्णन, चक्रेश्वरी वर्णन और जिनेश्वर वर्णन के अनन्तर सकलीकरण आदि क्रिया और मन्त्रोद्धार, ध्यान, षड्योग दीपनादि, षडासन, शान्तिकादि कर्म साधना के आठ यन्त्र भी दिए गए हैं। इसमें प्रत्यङ्गिरा का भी उल्लेख है। ग्रन्थकार ने 'काव्यप्रकाश' पर 'सङ्केत' टीका भी लिखी है।

१२. वर्धमानविद्याकल्प सिंहतिलकसूरि वि.सं. १३४०—मन्त्रराजरहस्यादि ग्रन्थों के रचयिता सिंहतिलकसूरि ने इस कल्प ग्रन्थ को अनेक प्रकरणों में विभक्त किया है। इसके तृतीय प्रकरण में वज्रस्वामी द्वारा रचित 'वर्धमान-विद्या-कल्प' को स्थान मिला है। अन्य प्रकरणों में 'पञ्चपरमेष्ठी मन्त्र कल्प' दिया गया है।

१३. **वर्धमानविद्या कल्प यशोदेव सूरि।**

१४. **वर्धमानविद्या कल्प अज्ञातकर्तृक।**

१५. **अद्भुतपद्मावती कल्प चन्द्रसूरि वि.सं. १४वीं शती**—यह छह प्रकरणों में रचित है, किन्तु प्रारम्भ में दो प्रकरण अनुपलब्ध हैं। तीसरे प्रकरण में रक्षणविधि और भूतशुद्धि वर्णित है। पद्मावती देवी के २४ सहचारी देवों तथा २० दण्डेशों का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। छठे प्रकरण में 'कलिकुण्डपार्श्वनाथयन्त्र' तथा अन्य यन्त्रों का वर्णन हुआ है।

१६. **चिन्तामणिकल्प धर्मघोषसूरि वि.सं. १६वीं शती**—रचनाकार मानतुङ्ग सूरि के शिष्य थे। इस रचना में ४७ पद्य हैं। यहाँ साधक के लक्षण, यन्त्रोद्धार के नौ वलयों का परिचय, जपविधि आदि देकर चिन्तामणि मन्त्र का कल्प सङ्क्षेप में दिया है।

१७. **चिन्तामणिकल्पसार अज्ञातकर्तृक**—यह २४ पद्य की लघुकृति है। इसमें ध्यानविधि, ध्यानफल तथा चिन्तामणि चक्र की पूजा वर्णित है।

१८. **घण्टाकर्णकल्प अथवा घण्टाकर्णमहावीरकल्प अज्ञातकर्तृक**—यह कृति अनेक पाण्डुलिपियों में प्राप्त है। इसमें ७० पद्य हैं, जिनमें मूल मन्त्र एवं अन्य तत्सम्बन्धी पूजा जप विधान दर्शित है।

१९. **सूरिमन्त्रकल्प मेरुतुङ्गसूरि वि.सं. १४९६**—अञ्चलगच्छ के आचार्य मेरुतुङ्ग की इस कृति के अन्य नाम सूरिमन्त्रकल्पसारोद्धार, सूरिमन्त्रविशेषाम्नाय अथवा सूरिमुख्यमन्त्रकल्प भी है। इसमें ५५८ पद्य हैं। सूरिमन्त्र की साधना का अधिकार साधु और उपाध्याय को नहीं है। केवल सूरि ही इसकी साधना करते हैं। इससे सम्बद्ध विविध नामावलियाँ मिलती हैं।

२०. **ह्रींकारकल्प अज्ञातकर्तृक**—मायाबीज ह्रींकार की उपासना का विशद वर्णन इसमें किया गया है।

२१. **बृहद्ह्रींकारकल्पाम्नाय जिनप्रभसूरि**—इसमें उक्त विषय का विस्तार से वर्णन हुआ है। संस्कृत के अतिरिक्त गुजराती भाषा में भी लेखन है।

२२. **श्रीघण्टाकर्ण मणिभद्रमन्त्रतन्त्र-कल्पादिसंग्रह ई. सन् १९६०**—गुजराती अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ भी साराभाई मणिलाल नवाब के द्वारा मुद्रित हुआ है। इसमें 'मणिभद्रकल्प' का मुद्रण है। मणिभद्र के ८ मन्त्र हैं। इसकी रचना उदयकुशल ने की है।

२३. **रक्तपद्मावतीकल्प अज्ञातकर्तृक वि.सं. १७वीं शती**—इसमें मन्त्र, यन्त्र, स्तुति और पद्मावती पूजन की विशिष्ट विधि वर्णित है।

कल्प सम्बन्धी लघु ग्रन्थों के संग्रह विभिन्न जैन ग्रन्थ भण्डारों में बहुत प्राप्त होते हैं। इन संग्रहों की अभिवृद्धि का कारण जैन साधुओं की शास्त्र रुचि तो है ही, साथ ही शासन की समुन्नति एवं धर्मरक्षा के लिए

विघ्नकारी धर्म विरुद्धाचारियों के उत्पातों के शमन हेतु निजी संग्रह के रूप में पुन: पुन: लेखन है। 'पुथम-लिङ्ग' जैन धर्म में अङ्ग रूप में निर्दिष्ट है। इन कल्पों में मूल विद्या प्रयोगों के साथ ही 'वृद्धसम्प्रदाय' के नाम से प्रयोगविधियों के विशिष्ट सूचन मिलते हैं, जो सम्भवत: उनकी गुरु परम्परा अथवा साधकानुभव परम्परा के सूचक हैं। ऐसे कल्प ग्रन्थों के कर्त्ताओं के नाम अज्ञात है और इनका प्रकाशन भी नहीं हुआ है, तथापि विद्वानों के ज्ञानार्थ यहाँ नामत: निर्देश किया जा रहा है—१. ओङ्कार कल्प, २. ह्रींकार कल्प, ३. नमस्कार कल्प, ४. उपसङ्गाहर कल्प, ५. नमिऊण कल्प, ६. लोगस्स कलप, ७. भक्तामर कल्प, ८. कल्याणमन्दिर कल्प, ९. शक्रस्तव कल्प, १०. नमोत्थुणं कल्प, ११. अट्टेमट्टे मन्त्र कल्प, १२. धरणेन्द्र कल्प, १३. कलिकुण्ड मन्त्र-यन्त्र कल्प, १४. जीराउली पार्श्वनाथ कल्प, १५. मेरुतुङ्गरचित पद्मावती कल्प, १६. गान्धार विद्या कल्प, १७. चक्रेश्वरी कल्प, १८. कूष्माण्डी कल्प, १९. पञ्चाङ्गुली कल्प, २०. श्रीदेवी कल्प, २१. सिद्धचक्र कलप, २२. ह्रींमण्डल कल्प, २३. ब्रह्मविद्या कल्प, २४. उग्रविद्या कल्प, २५. बीसा कल्प, २६. पञ्चदशी कल्प, २७. पञ्चषष्टियन्त्र कल्प, २८. द्वासप्ततियन्त्र कल्प, २९. विजययन्त्र कल्प, ३०. विजयपताका यन्त्र कल्प, ३१. जैन पताका यन्त्र कल्प, ३२. अर्जुनपताका यन्त्र कल्प, ३३. हनुमानपताका यन्त्र कल्प, ३४. रावण पताका कल्प, ३५. वज्रपञ्जरमहायन्त्र कल्प, ३६. चन्द्र कल्प, ३७. प्रतिष्ठा कल्प, ३८. ह्रींकारमयपञ्चदशीयन्त्र कल्प, ३९. सर्वसिद्धि कल्प, ४०. स्वर्णसिद्धि कल्प आदि।

इनके अतिरिक्त प्राकृत, हिन्दी, गुजराती आदि लोकभाषाओं में लिखित एवं संगृहीत 'औषध कल्प' भी जैनाचार्यों द्वारा प्रस्तुत हुए हैं। यथा—१. नक्षत्र कल्प (विविध कर्मों की सिद्धि के लिए वनस्पति योग), २. रुद्राक्ष कल्प, ३. रक्तगुञ्जा कल्प, ४. मयूरशिखा कल्प, ५. सहदेवी कल्प, ६. बहेड़ा कल्प, ७. निर्गुण्डी कल्प, ८. हाथाजोड़ी कल्प, ९. श्वेतार्क कल्प, १०. चन्द्रनक्षत्र कल्प, ११. श्वेत लक्ष्मण कल्प, १२. एकाक्षिनारिकेल कल्प, १३. दक्षिणावर्तशङ्ख कल्प, १४. गोरखमुण्डी कल्प तथा १५. विजयाकल्प।

इनके अतिरिक्त चिकित्सा के लिए निर्दिष्ट औषधियों की दिव्यता का आधान करने तथा प्रयोग करने की दृष्टि से भी कुछ कल्प ग्रन्थ बने प्राप्त होते हैं, इनमें जैन मन्त्रों के प्रति कोई विशेष आग्रह नहीं रखा गया है। इनका जैनत्व इसी में है कि ये जैनाचार्यों द्वारा रचित, संगृहीत, लिखित अथवा लिखाकर अपने भण्डारों में रखे हुए प्राप्त होते हैं।

वनस्पति कल्पों की साधना में पौधों अथवा वृक्षों की जड़, पत्ते आदि पञ्चाङ्ग का अभिमन्त्रण कर धूप-दीपादि से पूजन करके धारण, स्थापन और सामयिक पर्वाराधन की प्रमुखता रहती है।

जैन योग तथा तन्त्र विद्या

जैनाचार्य योग शब्द की परिभाषा—'मोक्षेण सह योजनाद् योग:' (अर्थात् मोक्ष के साथ जोड़ने से यह 'योग' कहलाता है) करते हैं। यह योग ज्ञान-श्रद्धान-चरणात्मक हैं, यह भी योग की व्याख्या है। 'मोक्षोपायो

योग:' कह कर योग को मोक्ष का उपाय भी कहा है। श्री यशोविजय जी उपाध्याय ने 'अध्यात्मसार' के १५वें अधिकार में योग का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है—

असद्ग्रहव्ययाद् वान्त–मिथ्यात्वविष–विप्रुषः।
सम्यक्त्वशालिनोऽध्यात्मशुद्धयोगः प्रसिद्ध्यति।।१।।

अर्थात् पहले असद्ग्रह के त्याग से, तदनन्तर मिथ्यात्व नामक विष–बिन्दुओं के वमन से जब सम्यग्दर्शन होता है, तब शुद्धात्म भाव से प्रयुक्त योग, अर्थात् मोक्ष मार्ग प्रसिद्ध होता है। यहीं योग के १. कर्मयोग और २. ज्ञानयोग ऐसे दो भेद भी बताये गये हैं। इनमें कर्मयोग से परम पद की प्राप्ति न होकर स्वर्गादि के सुख मिलते हैं, जबकि ज्ञानयोग से सच्चिदानन्दमय आत्ममरणता रूप शुद्ध तप द्वारा मोक्ष सुख मिलता है। जिनेश्वरों ने पहले कर्मयोग और तत्पश्चाद् ज्ञानयोग का क्रम बतलाया है, क्योंकि कर्मयोग से दोषोच्छेद हो जाने पर ज्ञान योग सफल होता है।

षड्दर्शनों में योग दर्शन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत है। भारतीय तीनों धर्म–धाराओं में 'योग' की विशिष्टता को अङ्कित करते हुए बहुत सूक्ष्म और गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत हुआ है। जैन योग दृष्टि भी अपने क्षेत्र में विविधता और अन्य धर्मों के विचारों में साम्य तथा वैषम्य को व्यक्त करते हुए उत्तरोत्तर अग्रसर हुई है। वैदिक और बौद्ध धर्मों में योग की अनेक शाखा–प्रशाखाओं का विवेचन है। उमसें ऊहापोहपूर्वक तारतम्य दिखला कर जैनों ने स्वतन्त्र वैशिष्ट्य स्थापना में भी सफलता प्राप्त की है।

योग शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा जैन धर्म में अतिप्राचीन है। यथा—

१. योगनिर्णय—अज्ञातकर्तृक (वि.सं. ७वीं शती)—श्री हरिभद्रसूरि ने 'योगदृष्टिसमुच्चय' स्वोपज्ञ वृत्ति में इसका उल्लेख किया है। इसी प्रकार उन्होंने कालातीत, गोपेन्द्र बन्धु भगवद्दत्त एवं भदन्त भास्कर नामक योगियों के नामों का उल्लेख किया है, जो उनसे पूर्व योग ग्रन्थों के निर्माता थे। अब योगनिर्णय ग्रन्थ भी प्राप्त नहीं है।

२. योगदृष्टिसमुच्चय—श्रीहरिभद्रसूरि (वि.सं. ८वीं शती)—यह ग्रन्थ आध्यात्मिक विकास से सम्बद्ध विषयों को क्रमशः व्यक्त करता है। मित्रादि आठ दृष्टियों के अधिकार के श्री हरिभद्रसूरि आद्य प्ररूपक माने जाते हैं। योग दृष्टियों के आठ विभाग योगाङ्गों के आधार पर किए गए हैं। इसमें २२६ पद्य हैं। इस रचना पर श्री सोमसुन्दरसूरि के शिष्य साधुराजगणि ने ४५० श्लोक प्रमाण टीका की रचना की है। योगदृष्टिसमुच्चयपीठिका नामक एक कृति इसके आधार पर श्री भानुविजयगणि ने लिखी है।

३. योगबिन्दु—श्रीहरिभद्रसूरि (वि.सं. ८वीं शती)—अनादि काल से इस अनन्त संसार में भ्रमण करने वाले मनुष्य को आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्म विकास करने की भावना कब स्फुरित होती है? इस प्रश्न का उत्तर इस ५२७ पद्यों की कृति में दिया गया है। आरम्भ से मोक्ष प्राप्ति तक की सिद्धि के लिए योग

मार्ग की पाँच भूमिकाएँ—१. अध्यात्म, २. भावना, ३. ध्यान, ४. समता और ५. वृत्तिसङ्क्षय बतलाई गई हैं तथा पातञ्जल योग एवं बौद्ध योग के साथ तादात्म्य साधा गया है। इस ग्रन्थ पर भी एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति प्राप्त है।

४. षोडशक—श्री हरिभद्रसूरि (पूर्ववत्)—इसमें १६ अधिकार हैं तथा धर्मपरीक्षा, धर्मलक्ष्य आदि विविध विषय हैं। १५ अधिकारों में योग के भेदों का निरूपण किया गया है। ध्येय के स्वरूप पर भी विचार हुआ है। इस ग्रन्थ पर यशोभद्रसूरि ने 'विवरण' लिखा है।

५. योगदीपिका टीका—श्री यशोविजयगणि (पूर्ववत्)—यह 'षोडशक' पर निर्मित न्यायविशारद श्री यशोविजयगणि की 'वृत्ति' है। योगशास्त्र पर श्री हरिभद्रसूरि रचित 'योगशतक', 'ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय' तथा 'जोग-बीसिया' ऐसी तीन कृतियों का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार इनकी ६ कृतियाँ योग विषयक मानी जाती हैं।

६. योगशास्त्र—श्री हेमचन्द्राचार्य (वि.सं. १२००)—यह सुप्रसिद्ध योगशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप योग चर्चित है। १२ प्रकाशों में विभक्त यह ग्रन्थ योग, ध्यान, मन्त्र, उपासना आदि सभी विषयों को प्रस्फुट करता है। इसके आद्य पद्य के ५०० अर्थ श्री लाभविजयगणि ने तथा ७०० अर्थ विजयसेन सूरि ने किए हैं। द्वितीय प्रकाश के १०वें पद्य के १०६ अर्थ मानसागर ने किए हैं। इसी प्रकाश के ८५वें पद्य के १०० अर्थ श्री जयसुन्दरसूरि ने भी किए हैं। स्वयं ग्रन्थकार ने इस पर १२००० श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी है। अन्य आचार्यों ने इस पर ७ टीकाग्रन्थ बालावबोध आदि भी लिखे हैं। इसका परिचय मन्त्र शास्त्र के प्रसङ्ग में भी दिया जा चुका है।

७. योगसार—अज्ञातकृर्तक (वि.सं. १२००)—यह ग्रन्थ ५ प्रस्तावों में विभक्त है। इसमें २०६ पद्य हैं। देवस्वरूप, धर्मोपदेश, साम्योपदेश, सत्त्वोपदेश तथा भावशुद्धिजनकोपदेश इसका विषय है।

८. योगकल्पद्रुम—अज्ञातकर्तृक—इस ४३५ श्लोक प्रमाण कृति में योग के प्रमुख विषयों की चर्चा है।

९. योगदीपिका—श्री आशाधर।

१०. योगभक्ति—अज्ञातकृर्तक।

११. योगप्रदीप (ज्ञानार्णव)—शुभचन्द्राचार्य।

१२. योगप्रदीप—श्री देवानन्द—यह १२७० श्लोक प्रमाण वाली कृति है।

१३. योगप्रदीप—अज्ञातकर्तृक—१४० पद्यों की यह कृति सांसारिक आत्मा को परम उत्कर्ष कैसे प्राप्त हो? वह परम पद किस प्रकार प्राप्त करें? ऐसे विषयों के उत्तर से पूर्ण है। प्रासङ्गिक रूप से उन्मनीभाव, सामायिक, रूपातीत, शुक्ल और निराकार ऐसे ध्यान के ३ प्रकार तथा अनाहत नाद का विचार यहाँ किया गया है। इस पर हैम 'योगशास्त्र' तथा 'ज्ञानार्णव' का प्रभाव स्पष्ट है।

१४. योगतरङ्गिणी टीका—श्री जिनदत्तसूरि।

१५. योगभेदद्वात्रिंशिका—श्री परमानन्द योगलक्षणद्वात्रिंशिका।

१६. योगमार्ग—श्री सोमदेव।

१७. योगमाहात्म्य।

१८. योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका—अज्ञातकर्तृक—यह ३२ पद्यों की लघु कृति है।

१९. योगरत्नसमुच्चय—अज्ञातकर्तृक—यह ४५० श्लोक प्रमाण कृति है।

२०. योगरत्नावली—अज्ञातकर्तृक।

२१. योगविवरण—श्री यादवसूरि (परिचय अज्ञात है)।

२२. योगविवेकद्वात्रिंशिका—अज्ञातकर्तृक।

२३. योगसंकथा—अज्ञातकर्तृक।

२४. योगसंग्रह—अज्ञातकर्तृक।

२५. योगसंग्रहसार—श्रीजिनचन्द्र।

२६. योगामृत—श्रीवीरसेन—इसी प्रकार योगपायच्छित्तविहि, योगविधि, योगानुष्ठानविधि, योगोद्वहनविधि आदि क्रियाकाण्ड की पुस्तकें भी प्राप्त होती हैं, जो अनुशीलन योग्य हैं।

जैन ध्यान साधना साहित्य

योग से सम्बद्ध ही ध्यान साधना का विषय है, किन्तु जैन साधकों ने ध्यान को अधिक महत्त्व दिया है। भगवान् महावीर को जो ज्ञान का प्रकाश मिला, वह उनकी ध्यान साधना का ही परिणाम माना गया है। प्राकृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ—*आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित* आदि में ध्यान का महत्त्व स्पष्टत: प्रतिपादित है। ऋषिभाषित (इसिभासियाइ) में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, वही स्थान साधना में 'ध्यान' का है। उत्तराध्ययन में श्रमण जीवन की दिनचर्या में साधक को दिन और रात्रि के दूसरे प्रहर में नियमित रूप से ध्यान करने के लिए कहा गया है। प्रतिक्रमण में भी ध्यान को अनिवार्यत: महत्त्व मिला है। जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ प्राय: ध्यानमुद्रा में ही अङ्कित होती हैं।

आध्यात्मिक साधनाओं का मूल लक्ष्य चैतसिक पीड़ा से मुक्ति पाना है। चित्त को आकुल-व्याकुलता, उद्विग्नता से छुटकारा दिलाकर समाधि भाव में स्थित करने के लिए समाधि युक्त चित्त का होना आवश्यक है। अतएव सभी धर्मों की साधना विधियों में ध्यान को स्थान मिला है।

तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को चित्तनिरोध कहा गया है। उत्तराध्ययन में मनरूपी अश्व का निग्रह करने के लिए श्रुतरूपी रस्सियों का प्रयोग अत्यावश्यक माना गया है। ध्यान चेतना के सङ्गठन की कला है, अत: इससे आत्मिक लब्धियाँ और सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। आध्यात्मिक शान्ति और निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि में ध्यान को अन्यतम साधन भी कहा है। '*ध्यानशतक*' में ध्यान से होने वाले पारम्परिक एवं व्यावहारिक लाभों

की भी विस्तृत चर्चा है। वहाँ कहा गया है कि ध्यान से शुभ आस्रव, संवर, निर्जरा और देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। इससे आत्मा कर्मरूपी मल और आवरण से मुक्त होकर निर्विकार ज्ञातावस्था को प्राप्त हो जाता है।

आवश्यकनिर्युक्ति में कायोत्सर्ग ध्यान के पाँच लाभ बताये गये हैं, जिनमें—१. देहजाशुद्धि, २. मतिजाशुद्धि, ३. सुखदुःखतितिक्षा, ४. समताभाव तथा ५. ध्यानाभ्यास की गणना की गई है। ध्यान को आत्मसाक्षात्कार की कला भी कहा गया है। ध्यान जीव में 'जिन' का, आत्मा में परमात्मा का दर्शन कराता है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक विकास के जिन १४ गुण स्थानों का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम गुणस्थान को 'अयोगी केवली गुणस्थान' कहा है। यह वह अवस्था है, जिसमें वीतराग आत्मा अपने कामयोग, वचनयोग और मनोयोग से शरीर, वाणी और मन की गतिविधियों का निरोध कर लेता है और उनके निरुद्ध हो जाने पर वह मुक्ति अथवा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान एक 'आन्तरिक तप' है। ध्यान में स्थित होने से पूर्व जैन साधक 'ठाणेणं अप्पाणं वोसिरामि' अर्थात् मैं शरीर से स्थिर होकर, वाणी से मौन होकर, मन को ध्यान में नियोजित करके शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करता हूँ, यह उच्चारण करता है।

उत्तराध्ययन (२८.३५) में कहा गया है कि आत्मा तप से परिशुद्ध होती है, सम्यग्ज्ञान से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध होता है, सम्यग्दर्शन से तत्त्व श्रद्धा उत्पन्न होती है, सम्यक्चरित्र से आस्रव का निरोध होता है, किन्तु इन सबसे मुक्ति सम्भव नहीं होती। मुक्ति का अन्तिम कारण तो 'निर्जरा' है। यह ध्यान से ही सम्भव है।

योगदर्शन में ध्यान को समाधि का पूर्व चरण माना गया है। ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। अतः ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैन दर्शन में, अपितु सभी धर्मों में मुक्ति का अन्तिम उपाय माना गया है।

उपर्युक्त ध्यान की महत्ता से ही जैनाचार्यों ने इस पर पर्याप्त साहित्य की रचना की है, जिसका परिचय आगे दिया जा रहा है—

१. ध्यानविचार—अज्ञातकर्तृक—यह लघु, किन्तु महत्त्वपूर्ण गद्यात्मक कृति है। इसका आरम्भ ध्यान मार्ग के २४ प्रकारों के उल्लेख से हुआ है। परम ध्यान और परम शून्य इत्यादि कह कर इनके दो विभाग भी किए हैं। भाव कला का निरूपण करते हुए यहाँ आचार्य पुष्पभूति और पुष्पमित्र के नामों का स्मरण किया गया है। नन्दीसुत्त, कप्पनिज्जुत्ति और आवस्सयनिज्जुत्ति के उद्धरण भी इसमें प्राप्त हैं। उपर्युक्त २४ प्रकारों के उपप्रकारों की संख्या ९६ है, जिनमें प्रत्येक के १. प्रणिधान, २. समाधान, ३. समाधि और ४. काष्ठा के साथ गुणन का निर्देश है। ध्यान के ९६ करणों का करणयोग, भवनयोग आदि के साथ गुणित करके छद्मस्थ

ध्यान के ४४२३६८ भेद दिखाये हैं। योग २९० आलम्बनों का और मनोयोग का भी विश्लेषण यहाँ किया गया है।

२. **ध्यानदीपिका—सकलचन्द्र (वि.सं. १७वीं शती)**—'ध्यानासुगदीपिका' तथा ध्यानसुपीदिका ऐसे अपर नाम वाली यह कृति २४५ पद्यों में निर्मित है। नौ प्रकरणों में विभक्त इस ग्रन्थ में ज्ञानादि चार भावना, अनित्यादि बारह भावना, आर्त्त आदि चार ध्यान, अष्टाङ्ग योग, पिण्डस्थादि चार ध्यान तथा हितशिक्षा आदि विविध विषय वर्णित हैं। ग्रन्थकार ने ज्ञानार्णव और योगशास्त्र से भी उद्धरण लिए हैं। ग्रन्थकार की अन्य रचनाएँ हैं—अप्पसिक्खापयरण और सुतस्साय, अर्थात् 'आत्मशिक्षाप्रकरण' तथा 'श्रुतास्वाद'। जिनरत्नकोश में ध्यान विषयक अन्य जैन कृतियाँ इस प्रकार वर्णित हैं।

३-४. ध्यानसार—यश:कीर्ति कृत तथा अन्य अज्ञातकर्तृक।

५. ध्यानमाला—नेमिदास।

६. ध्यानस्तव—भास्करनन्दि।

७. ध्यानस्वरूप—भावविजय (वि.सं. १६९६)।

८. ध्यानामृत—अभयचन्द्र।

९. ध्यानविचार—अज्ञातकर्तृक।

१०. ध्यानदण्डकस्तुति—रत्नशेखर सूरि।

इनके अतिरिक्त समता, समाधि, वैराग्य और अध्यात्म विषय पर भी जैनाचार्यों ने बहुत लिखा है। यथा—

१. समभावशतक—धर्मघोषसूरि।

२. साम्यशतक—विजयसिंहसूरि (१०६) श्लोक।

३. समाधितन्त्र—कुन्दकुन्द आचार्य।

४. समाधिशतक—पूज्यपाद (१०५ श्लोक) वि.सं. छठी शती। आत्मा से अतिरिक्त पदार्थों में आत्मत्व बुद्धि रखने से सांसारिक जीव दुःखी होता है। आत्मा की गति के बारे में भी यहाँ अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'मोक्ख पाहुड' से वैचारिक साम्य प्रतिपादित है। इस कृति पर श्रीप्रभाचार्य, यशचन्द्र पर्वत धर्म और मेघचन्द्र ने संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखी हैं। हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी में अनुवाद भी हुए हैं।

५. समाधिशतक—अर्थात् दोधिकाशतक, न्यायविशारद श्री यशोविजयजी गणिकृत।

६. समाधितन्त्रविचार—पूज्यपाद।

७. समाधिद्वात्रिंशिका—अज्ञातकर्तृक।

८. समाधिभित्ति—अज्ञातकर्तृक।

९. वैराग्यकल्पलता—न्यायविशारद यशोविजयगणि। वि.सं. १७३६ में निर्मित १०५० श्लोकात्मक यह कृति नौ स्तबकों में विभक्त है।

१०. **वैराग्यरति**—न्यायविशारद यशोविजयगणि।

११. **वैराग्यदीपक**—अज्ञातकर्तृक।

१२. **वैराग्यमणिमाला**—विशालकीर्ति।

१३. **वैराग्यमणिमाला**—श्रीचन्द्र।

१४. **वैराग्यरसमञ्जरी**—श्रीलब्धिसूरि।

१५. **आत्मानुशासन**—आचार्य गुणसेन (वि.सं. ९४०)। २७० पद्यों में निर्मित यह कृति चार आराधना के विषयों को व्यक्त करती है।

१६. **आत्मानुशासन**—पार्श्वनाथ (वि.सं. ९६३)।

१७. **गुणस्थानक्रमारोह अथवा गुणस्थानरत्नराशि**—रत्नशेखर सूरि की यह वि.सं. १४४७ की रचना है। इसमें आध्यात्मिक विकास किस प्रकार होता है? यह विषय चर्चित है। यह विषय 'उत्क्रान्तिवाद' की कोटि में आता है। इसमें आत्मा की उत्क्रान्ति साधने के लिए मन की एकाग्रता की प्राप्ति के लिए लिखा है, जो योग का ही विषय है। २३७ पद्यात्मक यह कृति स्वोपज्ञ अवचूर्णि से भी अलङ्कृत है। इसी नाम की अन्य कृतियों में '*गोम्मटसार*' को भी 'गुणस्थानक्रमारोह' कहा जाता है।

१८-१९. **उपशमश्रेणिस्वरूप और क्षपकश्रेणिस्वरूप**—ये दोनों कृतियाँ मुक्ति मन्दिर पर पहुँचने के लिए सोपानों के वर्णन से युक्त है। कर्त्ताओं के नाम अज्ञात हैं।

२०. **लब्धिसार**—नेमिचन्द।

२१. **खवणासार**—नेमिचन्द्र। इन दोनों कृतियों पर माधवचन्द्र की संस्कृत टीकाएँ हैं। इस प्रकार ध्यान योग से प्रारम्भ होकर उत्क्रान्ति योग तक को आत्मसात् करके लिखे ग्रन्थों में आत्म कल्याण की साधना के मार्गों को प्रशस्त किया गया है। आज भी जैन आचार्य साधु-सन्त, साध्वीजी आदि इस दिशा में सतत प्रवृत्तिशील हैं, शिक्षण के लिए शिविरों का आयोजन करते हैं। शोधकार्य हो रहे हैं।

ध्यान मुनि जीवन का आवश्यक अङ्ग है। श्री भद्रबाहु ने नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना की थी। दुर्बलिका पुष्पमित्र की ध्यान साधना के उल्लेख भी मिलते हैं। अनेक आगमों में यह विषय वर्णित है। परवर्ती काल में इस पर तन्त्र और हठयोग का प्रभाव पड़ा है। ध्यानविधि, धारणाएँ, बीजाक्षर और मन्त्रों के ध्यान, षट्चक्रभेदन आदि भी इसमें समाविष्ट हुए। बौद्धों की विपश्यना साधना भी जैन दृष्टि में जुड़ी है। प्रेक्षाध्यान और समीक्षण ध्यान विधि को भी प्रवर्तित रखने के लिए प्राय: ४८ लघु पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई है। इनमें सत्यनारायण गोयनका, युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनि, श्री नथमल जी और आचार्य श्री नानालाल जी आदि के नाम स्मरणीय हैं।

ध्यान योग सम्बन्धी शोधकार्य

जैन ध्यानयोग पर गवेषणात्मक और समीक्षात्मक कार्यों पर भी विद्वानों ने पर्याप्त ध्यान दिया है। हरिभद्र के ग्रन्थों पर पं. सुखलाल गाँधी का, समदर्शी हरिभद्र, अर्हतदास बण्डबोध दिधे का, पार्श्वनाथ विद्यालय

शोध संस्थान से प्रकाशित जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, मङ्गला साण्ड का भारतीय योग आदि और अंग्रेजी में विलियम जेक्श का जैन-योग, डॉ. नथमल टांटिया का स्टडीज इन जैन फिलासफी, पद्ममनाभ जैनी का जैन पाथ ऑफ प्यूरिफिकेशन, मुनि श्री नथमल जी युवाचार्य के हिन्दी ग्रन्थ चेतना का ऊर्ध्वारोहण, किसने कहा मन चञ्चल है? और आभामण्डल तथा आचार्य तुलसी का ग्रन्थ प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा आदि महत्त्वपूर्ण हैं। साध्वी श्री प्रियदर्शना जी का 'जैनसाधना पद्धति में ध्यान योग' नामक शोध प्रबन्ध भी इस दिशा का उत्तम प्रयास है।

तान्त्रिक दृष्टि से साधना करने वालों के लिए बाह्ययजन और अन्तर्यजन दोनों ही परमावश्यक बतलाये गये हैं। केवल एक प्रकार का अवलम्बन लेने से उसकी पूर्णता नहीं होती। न्यास अन्तर्यजन का प्रारम्भिक रूप है। शरीर के तत्तत् अवयवों में देवोद्देश से मन्त्रपूर्वक किया जाने वाला न्यास विधान आन्तरिक चिन्तन से ही सरल होता है। भावपूजा में भी अन्तर्भावों का तत्सम विभावन होने से उसमें यथार्थता आती है, साक्षात्कार की स्थिति बनती है और बाह्य आलम्बन को चैतन्य बनाने के लिए भी श्वास प्रक्रियात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। यह सब ध्यान से सहज सम्भव है।

जैन स्तुति साहित्य और तन्त्रशास्त्र

साहित्य रचना का मूल आधार स्तुति काव्य को माना गया है। परमात्मा के गुणगणों के यथेच्छ कथन की स्तुतियों में स्वतन्त्रता रहती है। इन्हीं स्तुतियों में आचार्य स्तोत्रकार अपने वैदुष्य का विवेक गूढ़ रूप में भी व्यक्त करते रहे हैं। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रगर्भित स्तोत्र भी उनमें से एक विधा रही है। आगमिक दृष्टि से मन्त्रवर्णगर्भ, यन्त्ररचनाविधानगर्भ, तन्त्रप्रक्रियागर्भ, पारद-सुवर्ण-गुटिकादि-विधानगर्भ और भैषज्यगर्भ स्तोत्र इनमें प्रमुख हैं। जैनाचार्यों ने इस दिशा में पर्याप्त रचनाएँ की हैं। उनमें से कुछ का परिचय इस प्रकार है—

१. **सिद्धान्तागमस्तव**—श्रीजिनप्रभसूरि ने वि.सं. १३६५ में इस स्तोत्र की रचना की है। इसमें ४६ पद्य हैं। यहाँ स्तुति के माध्यम से आवश्यकादि ११ ऋषिभाषित अङ्ग, १२ उपाङ्ग, १३ प्रकीर्णक, ६ छेदसूत्र, दृष्टिवाद अनेक ग्रन्थों का और पञ्चनमस्कार आचार्यमन्त्र आदि का भी वर्णन किया गया है। विशालराजसूरि ने इस पर अवचूरि लिखी है।

२. **दशदिक्पालस्तुतिगर्भित—ऋषभजिनस्तवन**—यह भी जिनप्रभसूरि द्वारा रचित है। इसके ११ पद्यों में इन्द्र, अग्नि, यम आदि दिक्पालों की श्लिष्ट रूप से योजना करके ऋषभदेव की स्तुति की गई है। मन्त्रों का सूचन भी किया है।

३. **मन्त्रस्तवन**—यह ५ पद्यों का स्तवन है। जिनप्रभसूरि ने इसमें जिनमन्त्रों का स्मरण किया है।

४. **ऋषिमण्डलस्तोत्र**—८६ पद्यों के इस स्तोत्र की जिनप्रभसूरि ने विभिन्न मन्त्रादि से गर्भित करके रचना की है। इस स्तोत्र की वाचनाएँ भी बहुत प्राप्त होती हैं, जिनमें पद्यसंख्या न्यूनाधिक मान्य है।

क्षमाश्रमणगणि ने १०२ पद्यों का एक संस्करण तैयार किया था। 'ऋषिमण्डलस्तोत्र' के नाम से ही और भी कतिपय पाण्डुलिपियाँ भण्डारों में प्राप्त होती हैं। चित्रपटों पर यन्त्रों के आलोखन भी प्राचीन वि.सं. १५०० से प्राप्त होते हैं। ऋषिमण्डल यन्त्रालेखन और लेखनविधि पर भी बहुत लिखा गया है।

५. **सूरिमन्त्रस्तोत्र**—वि.सं. १४८५ में मुनि सुन्दरसूरि ने इसकी रचना की है। इसमें सूरिमन्त्र की रचना श्री महावीर की सूचना पर गौतम गणधर ने की है, यह उल्लेख करते हुए सूरिमन्त्र पर लिखा गया है।

६. **सिद्धान्तागमस्तव**—यह सूरिमन्त्र के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत करता है। लघुशान्ति स्तव के रचयिता मानदेव सूरि ने इसकी रचना प्राकृत भाषा में की है।

७. **नवग्रहस्तवगर्भपार्श्वस्तव**—श्री रत्नशेखर सूरि ने इसकी रचना वि.सं. १४९० में की है। इसमें १० पद्य हैं तथा इसमें नवग्रह और पार्श्वनाथ की समन्वित स्तुति है। इनके अतिरिक्त—१. मन्त्राक्षरगर्भित श्रीपार्श्वजिनस्तोत्र, २. मन्त्राक्षरगर्भ पार्श्वनाथस्तव, ३. 'अट्टेमट्टे'मन्त्रगर्भ पार्श्वनाथस्तव, ४. महामन्त्रगर्भित श्री कलिकुण्डपार्श्वजिनस्तवन, ५. श्रीपार्श्वनाथमन्त्रस्तव, ६. मन्त्रयन्त्रादिगर्भित श्री स्तम्भनपार्श्वजिनस्तवन, ७. स्वर्णसिद्धिगर्भित महावीरस्तवन, ८. मन्त्रभेषजादिगर्भित महावीरस्तोत्र, ९. ईर्यापथिकीगर्भितस्तव, १०. नवग्रहस्वरूपगर्भपार्श्वस्तव आदि बहुत-से स्तोत्र प्राप्त होते हैं, जिनमें मन्त्र-यन्त्र विधि-विधान तथा उनके माहात्म्य आदि प्रदर्शित हैं। इन स्तोत्रों की रचना से जैनाचार्यों ने संस्कृत काव्यरचना कौशल को भी प्रौढ़ता दी है।

जैन ग्रन्थ सम्पदा और सुरक्षा

जैसा कि पहले देख चुके हैं, जैन तन्त्र का विस्तार भी अन्यान्य तन्त्रों की समानता में पर्याप्त व्यापकता को लिए हुए है। उसका वर्गीकरण करने पर ज्ञात होता है कि इसकी परिधि में अनेक विषयों का समावेश होता है। यथा—१. योग-ध्यानादि, २. मन्त्र, ३. यन्त्र, ४. तन्त्र, ५. कल्प, ६. स्तोत्र, ७. धार्मिक अनुष्ठानात्मक विधि, ८. उपासकाचार, ९. दर्शन एवं १०. प्रकीर्णमन्त्रादि विद्या।

इन दस विषयों के ग्रन्थों की रचना परम्परा तथा प्रक्रिया के विविध पक्षों का विमर्श करने पर तीन प्रकार उपलब्ध होते हैं—१. मूलविषय प्रतिपादन, २. प्रासङ्गिक प्रतिपादन और ३. अङ्गोपाङ्ग रूप में निरूपण।

इन प्रकारों से निरूपित ग्रन्थ विशालकाय भी हैं और लघुकाय भी। गद्यात्मक, पद्यात्मक और उभयात्मक—ऐसी तीनों लेखन की विधाएँ इनमें स्वीकृत हैं। भाषा की दृष्टि से अर्धमागधी (प्राकृत) और संस्कृत दोनों ही प्रयुक्त हैं। इनके अतिरिक्त लोकोपयोगिता को ध्यान में रखकर हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़ आदि लोकभाषाओं में दूहा (दोहे), चौपाई आदि छन्दों का आश्रय लेकर अनुवाद अथवा स्वोपज्ञ वृत्ति आदि का उपयोग हुआ है।

जैन श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं स्थानकवासी आदि सभी सम्प्रदायों ने तन्त्र विद्या के प्रति आस्था न्यूनाधिक रूप में व्यक्त की है तथा प्रक्रियागत वैषम्य रखते हुए भी मूल उपासना को सर्वोपरि स्थान दिया है। जिस

प्रकार मन्त्रादि क्रियाओं को गोपनीय माना गया है, उसी प्रकार मन्त्रादि प्रक्रियाओं पर लिखित साहित्य भी गुप्त रखने का ही शास्त्रों में निर्देश है। 'कुलपुस्तकानि गोपायेत्' ऐसा जो तन्त्रों का वचन एवं सिद्धान्त है, उसमें भी गोपन से रक्षण एवं छिपाने के सङ्केत मिलते हैं। नागार्जुन और अक्षोभ्य जैसे महान् तान्त्रिक भी अपनी सिद्ध विद्याओं को सदा अपनी कुक्षि में रखते थे, इसीलिए उन्हें 'कक्षपुटी' नाम से सम्बोधित किया जाता है। पूज्य साधु समुदाय भी अपने साथ ऐसी महत्त्वपूर्ण संग्रह पुस्तकों को अपने पास रखता था और बाद में किसी ग्रन्थ भण्डार में रखवा देता था। जैन ग्रन्थ भण्डारों की ऐसी स्थापनाएँ भारत के प्रसिद्ध नगरों में आज भी स्थापित हैं, जिनमें हस्तलिखित एवं मुद्रित जैन धर्म के ग्रन्थों का संग्रह सुरक्षित रूप में स्थित है। ऐसे कतिपय संग्रहालयों की नामावली इस प्रकार है—

१. श्री वर्धमान जैन आगम मन्दिर, पालीताणा, गुजरात।
२. श्री विजयमोहन सूरीश्वर हस्तलिखित शास्त्रसंग्रह, पालीताणा।
३. शेठ श्री आणंद जी कल्याण जी नी पेढ़ी, श्री जैनश्वेताम्बर ज्ञानभण्डार, पालीताणा, गुजरात।
४. शेठ श्री आणंद जी कल्याण जी नी पेढ़ी, श्री जैनश्वेताम्बर ज्ञानभण्डार, लींबड़ी, गुजरात।
५. श्री हीरजी जैनशाला ज्ञानभण्डार, जामनगर, गुजरात।
६. श्री अञ्चलगच्छ ज्ञानभण्डार, जामनगर, गुजरात।
७. श्री डे.ला. जैन उपाश्रय ज्ञान भण्डार, अहमदाबाद, गुजरात।
८. श्री संवेगीनो उपाश्रय जैन ज्ञानभण्डार, अहमदाबाद, गुजरात।
९. श्री विजयदानसूरि ज्ञानमन्दिर, अहमदाबाद, गुजरात।
१०. श्री मुक्तिकमल जैन मोहन ज्ञान मन्दिर, बड़ौदा, गुजरात।
११. श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमन्दिर, बड़ौदा, गुजरात।
१२. श्री जैनानन्द पुस्तकालय, सूरत, गुजरात।
१३. श्री हेमचन्द्राचार्य ज्ञान मन्दिर, पाटण, गुजरात।
१४. श्री अमरविजय जी जैन ज्ञान मन्दिर, डभोई, गुजरात।
१५. श्री मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर, डभोई, गुजरात।
१६. श्री लावण्यविजय जैन ज्ञानभण्डार, राधनपुर, गुजरात।
१७. श्री वीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञान भण्डार, राधनपुर, गुजरात।
१८. श्री आत्मकमल लब्धि जैन ज्ञानभण्डार, दादर, बम्बई।
१९. श्री शान्तिनाथ जैन देरासर शान्तिगच्छ प्रवचन पूजासभा, बम्बई।
२०. महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, महाराष्ट्र।
२१. श्री अभयजैन ग्रन्थालय, बीकानेर, राजस्थान।
२२. श्री जैन साहित्य मन्दिर, पालीताणा, गुजरात।

गुजरात, राजस्थान तथा अन्यान्य प्रदेशों में ऐसे अनेक भण्डार हैं। स्थान विशेष पर ज्ञान भण्डार की स्थापना करके वहाँ ग्रन्थों को रख दिया जाता था। ये 'ज्ञान भण्डार' स्थानीय ज्ञान रसिकों के काम तो आते ही थे, साथ ही विहार में आकर विश्वास करने वाले साधु साध्वियों के अध्ययन, अनुसन्धान एवं उद्भूत प्रश्नों के समाधान के लिए भी बहुत उपयोगी होते थे।

ज्ञान भण्डार की सुरक्षा, अभिवृद्धि एवं ग्रन्थों के आदान-प्रदान की व्यवस्था भी स्थानीय सङ्घ, ट्रस्ट अथवा विशिष्ट व्यक्तियों के अधीन रहती थी। इस परम्परा का निर्वाह अब शिथिल हो रहा है। शहरों में विश्वविद्यालय तथा शासकीय संरक्षणों में अनुसन्धान संस्थानों की स्थापना तथा मुद्रित ग्रन्थों की अधिकता से जैन समाज ने इस दायित्व के भार से अपने को मुक्त रखने में हित माना है। जहाँ, जिन साधु मुनिराजों के पास ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के संग्रह थे, उन्हें भी उन विशाल संग्रहालयों में दे दिया है।

प्रसिद्ध जैन ज्ञान भण्डारों में आज भी ऐसे दुर्लभ पाण्डुलिपि ग्रन्थ हैं, जिनका उपयोग विद्वज्जन समय-समय पर वहाँ पहुँच कर करते हैं। जैसलमेर, बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, पाटण, पीलीताणा, छाणी, अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, बम्बई, कलकत्ता, पूना, सोलापुर, वाराणसी, मूडबिद्री आदि ऐसे स्थान जैन ज्ञान भण्डारों के लिए सुप्रसिद्ध हैं।

स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ के अध्यवसायी मुनिगण तथा विद्योपासक विद्वान् निरन्तर ऐसे ग्रन्थों के अन्वेषण, सम्पादन और प्रकाशन में अहर्निश सन्नद्ध हैं, यह प्रसन्नता का विषय है।

जैन परम्परा में अनुष्ठानों की विविधता

जैन परम्परा में नित्य कर्म के रूप में सामायिक प्रतिक्रमण षडावश्यक के पश्चात् जिनपूजा को प्रथम स्थान प्राप्त है। स्थानकवासी श्वेताम्बर, तेरापन्थ तथा दिगम्बर तारणपन्थ को छोड़कर शेष परम्पराएँ जिन प्रतिमा की पूजा को श्रावक का आवश्यक कर्त्तव्य मानती है। इस दृष्टि से श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रचलित अनुष्ठान इस प्रकार स्मरणीय हैं—स्नात्रपूजा, बृहच्छान्तिस्नात्रपूजा, नमिऊणपूजा, अर्हत्पूजा, सिद्धचक्रपूजा, नवपदपूजा, सत्तरहभेदीपूजा, अष्टकर्मपूजा, अन्तरायपूजा, भक्ताभरणपूजा, चक्रपूजा, ऋषिमण्डलपूजा आदि-आदि।

दिगम्बर परम्परा इसके साथ ही ज्ञानपूजा से विशेष रूप से सम्बद्ध है। वहाँ अभिषेक पूजा, देवशास्त्रपूजा, जिनचैत्यपूजा आदि तो प्रचलित हैं ही, साथ ही व्रत और अनुष्ठान भी बहुत मान्य हैं। दशलक्षण व्रत, अष्टाह्निका व्रत, द्वारालोकन, जिनमुखावलोकन, जिनपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रभक्ति, तपोऽञ्जलि, मुक्ताञ्जलि, मनकावलि, राकावलि, छिकावलि, रत्नावलि, मुकुटसप्तमी, सिंहनिष्क्रीडित, निदोषसम्पत्ति, अनन्त, षोडश कारण, ज्ञानपच्चीसी, चन्दनषष्ठी, रोहिणी, अक्षयनिधि, पञ्चपरमेष्ठी, सर्वार्थसिद्धि, धर्मचक्र, नवनिधि,कर्मचूर की इनमें गणना की जाती है।

सुखसम्पत्ति, इष्टसिद्धि, नि:शल्य-अष्टमीव्रत आदि के अतिरिक्त पञ्चकल्याण, बिम्बप्रतिष्ठा, वेदीप्रतिष्ठा, सिद्धचक्रविधान, इन्द्रध्वजविधान, समवसरण विधान, ढाई द्वीप विधान, त्रिलोकविधान, बृहच्चरित्रशुद्धिविधान, महामस्तकाभिषेक आदि अनुष्ठान भी तान्त्रिक विधियों से ही प्रपुष्ट हैं।

इन अनुष्ठानों में कृत्यात्मक कला (परफार्मिंग आर्ट) का भी विकास हुआ है, जिसे पूजा हेतु बनाये जाने वाले भव्य मण्डलों में देखा जा सकता है। नृत्य, गीत, वाद्य आदि भी स्तुतियों में प्रयुक्त होते हैं। यह प्राचीन परम्परा है। नाट्यविधि भी इसमें आ जाती है।

जैन अनुष्ठानात्मक साहित्य

आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है कि—**"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष:"** अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु इसके साथ ही आत्मशुद्धि के भी इसके लिए आवश्यक बताया गया है। आत्मशुद्धि आत्मतत्त्व के ज्ञान से उपलभ्य है। अनुष्ठान का अर्थ है—अनुकूल आचरण, अर्थात् आत्मतत्त्व के लिए हितकारी कोई भी प्रवृत्ति। जैसे कि ज्ञान प्राप्त करना, धर्मोपदेश सुनना, ध्यान करना, जिनपूजन, सामायिक, तप त्याग आदि धर्मानुष्ठान शास्त्रविहित पद्धति से शक्ति के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में भी किए जाएँ, तो वे आत्म शुद्धि के साधक बनते हैं। वस्तुत: तीर्थङ्कर देवों ने जो तीर्थङ्करत्व प्राप्त किया है अथवा करते हैं, वह भी अनुष्ठानों और शुद्ध क्रियाओं के द्वारा ही सम्भव होता है।

जैन धर्म में आत्मा की शुद्धि के लिए अनेक मार्ग बताये गये हैं। कहा गया है—**'मोक्षेण योजनाद् योग:।'** आत्मा की किसी प्रवृत्ति के पश्चात् जो भी कुछ साक्षात् धर्मानुष्ठान रूप हो, वह योग रूप बन जाता है। यद्यपि 'उत्तराध्ययन' जैसे प्राचीन ग्रन्थों में स्नान, हवन, यज्ञादि कर्मकाण्ड का निषेध ही परिलक्षित होता है, किन्तु वहीं धर्म के नाम पर किए जाने वाले इन कर्मकाण्डों, अनुष्ठानों को आध्यात्मिक रूप प्रदान करके उसका मण्डन भी कर दिया गया है।

जीवन के प्रति अनासक्ति, ममत्वहीनता और इन्द्रियजय की प्रवृत्ति वाले अनुष्ठानों को दार्शनिक रूप से परिभाषित करके उधर प्रवृत्त होने का निर्देश सर्वत्र जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। आचाराङ्ग, दशवैकालिक, आवश्यकसूत्र, मूलाचार, सूत्रकृताङ्ग, कल्पसूत्र, भगवतीसूत्र, राजप्रश्नीय, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में अनुष्ठान विधियों के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। दैनिक आवश्यकताओं की प्रक्रिया भी अनुष्ठानमूलक ही है। जैन अनुष्ठान महत्त्वपूर्ण एवं अपेक्षाकृत प्राचीन अङ्ग गुरुवन्दन और चैत्यवन्दन है। भक्तिमार्गी परम्परा में पूजाविधि और श्रमण परम्परा में तपस्या और ध्यान का विकास हुआ है। जिन मन्दिर और जिन प्रतिमाओं के विस्तार से पूजा पद्धतियाँ भी विविधता को प्राप्त हो गयी।

महावीर के धर्मसङ्घ में 'प्रतिक्रमण' एक दैनिक अनुष्ठान बना। इसी से षडावश्यकी, सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, गुरुवन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्गध्यान तथा प्रत्याख्यान का विकास हुआ। तदनन्तर भावपूजा और द्रव्यपूजा के रूप में पूजा विधियों का विस्तार होता गया। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में

जैन सामग्री के प्रयोग पर भी अष्ट द्रव्य, पुष्प पूजा आदि के निर्णय हुए, पञ्चोपचार, छह द्रव्य, षोडशोपचार आदि प्रचलित हुए। राजप्रश्नीय सूत्र में सूर्याभदेव द्वारा विहित जिनपूजा के अनुसार अनुष्ठान के प्रमुख अङ्ग रूप पूजाएँ भी प्रचजित हो गयीं।

अनुष्ठानपरक जैन साहित्य को भी तन्त्र के अङ्ग के रूप में मानना उचित है, क्योंकि तन्त्र की इस सामान्य परिभाषा—

यत्र चोपासनामार्गो देवतानां प्रकाशितः।
तं ग्रन्थं तन्त्रमित्याहुः पुरातनमहर्षयः।।

इसके अनुसार यह साहित्य भी उपासना मार्ग का ही पोषक है। इस दिशा में निर्मित साहित्य का कुछ परिचय इस प्रकार है—

१. आवश्यक निर्युक्ति
२. पूजाविधि प्रकरण — उमास्वाति
३. महापुराण — जिनसेन
४. तिलोयपण्णत्ति — यतिवृषभ
५. पञ्चाशकप्रकरण — हरिभद्र सूरि (१९ पञ्चाशकों का संग्रह)

प्रत्येक पञ्चाशक ५०-५० श्लोकों की स्वस्वविषय पर विवरण देता है। इस पर नावाङ्गीवृत्तिकार अभयदेवसूरि की वृत्तियाँ भी हैं।

६. अनुष्ठान विधि — चन्द्रसूरि (महाराष्ट्र)
७. समाचारी शतक — सोमसुन्दरसूरि
८. समाचारी — तिलकाचार्य
९. विधिमार्गप्रमाण — जिनप्रभसूरि (वि.सं. १३६५)
१०. आचारदिनकर — वर्धमानसूरि (वि.सं. १४६८)
११. श्राद्धविधिनिश्चय — हर्षभूषणमणि (वि.सं. १४८०)
१२. समाचारीशतक — समयसुन्दरसूरि
१३. प्रतिष्ठाकल्प — अनेक लेखकों की ६ कृतियाँ
१४. प्रतिष्ठारसारसंग्रह — वसुनन्दी (वि.सं. ११५०)
१५. जिनयज्ञकल्प — आशाधर (वि.सं. १२८२)
१६. महाभिषेक — आशाधर (वि.सं. १२८२)
१७. दशलाक्षणिक व्रतोद्यापन — सुमतिसागर
१८. व्रत-तिथि निर्णय — सिंहनन्दी

१९. जम्बूद्वीपपूजन — ब्रह्मजिनदास (वि.सं. १५वीं शती)
२०. षड्विंशतिक्षेत्रपालपूजन — विश्वसेन (वि.सं. १६वीं शती)
२१. बृहत्कलिकुण्डपूजन — विद्याभूषण (वि.सं. १७वीं शती)
२२. धर्मचक्रपूजन एवं बृहद्धर्मचक्रपूजन — (वि.सं. १६वीं शती) बुधवीरु
२३. पञ्चपरमेष्ठीपूजन — सकलकीर्ति (वि.सं. १६वीं शती)
२४. षोडशकारणपूजन — सकलकीर्ति
२५. गणपरवलमपूजन — सकलकीर्ति
२६. प्रतिष्ठाकल्प — नागनन्दी
२७. षोडशसागरव्रतोद्यापन — श्रीभूषण
२८. श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र — श्री चन्द्रसूरि (वि.सं. १२२२)
२९. नन्दीटीका दुर्गपदव्याख्या — हरिभद्र सूरि तथा श्री चन्द्रसूरि

श्री चन्द्रसूरि ने वि.सं. १२२६ में इस पर ३३०० श्लोक प्रमाण व्याख्या लिखी है। जैसलमेर के भण्डार में इसकी पाण्डुलिपि है।

३०. सर्वसिद्धान्तविषयमपदव्याख्या — श्री चन्द्रसूरि (२२६४ श्लोक प्रमाण)
३१. प्रतिष्ठादीक्षा कुण्डलिका — श्री नरचन्द्र
३२. अर्हदभिषेकविधि — पं. कल्याणविजयगणि (वि.सं. ११वीं शती)

ऐसी अनेक कृतियाँ अनुष्ठान विधानों को सम्पन्न कराने के लिए पूर्वाचार्यों ने निर्मित की हैं। इनका दार्शनिक पक्ष भी है, जो तप:प्रधान अनुष्ठानों के माध्यम से कर्ममलों का निवारण, आध्यात्मिक गुणों का विकास और पाशविक आवेगों का नियन्त्रण करता है। इनका उद्देश्य भी समन्तभद्र ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विगीतवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।।

जैन अध्यात्म दर्शन साहित्य

जैनदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य अध्यात्म विषय है। इसी प्रकार साधना के क्षेत्र में प्रवेश पाने के इच्छुक व्यक्ति को भी तदनुसार पात्रता प्राप्त करने के लिए अध्यात्म रुचि और आध्यात्मिक चिन्तन का अनुरागी बनना आवश्यक है। अध्यात्म का तात्पर्य है—आत्म चिन्तन की ओर प्रवेश। यद्यपि अध्यात्म साधना से लौकिक फल का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, तथापि जीवन शुद्धि का प्रथम और अत्यावश्यक सोपान तो है ही। जैन धर्म के आचार्यों ने अध्यात्म विषय पर भी पर्याप्त ग्रन्थ रचनाएँ की हैं, जिनका कुछ परिचय इस प्रकार है—

१. अध्यात्मरहस्य—श्री आशाधर (वि.सं. १२८०)। इसकी रचना पं. आशाधर ने अपने पू. पिता की इच्छा पर की थी। इसमें योग के विषय को विशद रूप से समझाते हुए उसके आध्यात्मिक तथ्य को समझाया गया है।

२. अध्यात्म कल्पद्रुम—सहस्रावधानी मुनि सुन्दरसूरि (वि.सं. १४७०)। सोलह अधिकारों में विभक्त यह ग्रन्थ शान्तरस की भावना से ओत-प्रोत है। इस पर तीन संस्कृत टीकाएँ रचित हैं—१. धनविजय गणि की अधिरोहिणी, २. रत्नचन्द्रगणि की अध्यात्मकल्पलता और ३. उपाध्याय विद्यासागर कृत।

३. अध्यात्मकमलमार्तण्ड—राजमल्ल कवि। यह चार विभागों में विभक्त २०० पद्यों में रचित है।

४. अध्यात्म तरङ्गिणी—श्री सोमदेव।

५-९. अध्यात्मसारप्रकरण—न्यायविशारद यशोविजयगणि (वि.सं. १७४३)। श्री यशोविजय जी उपाध्याय ने अध्यात्म विषय पर पाँच रचनाएँ लिखी हैं—१. अध्यात्मबिन्दु, २. अध्यात्मतत्त्वपरीक्षा, ३. अध्यात्मसार, ४. अध्यात्मतत्त्वोपदेश, ५. अध्यात्मोपनिषद्। इनमें अध्यात्मसार ग्रन्थ अतिविस्तृत है और इस पर श्री भद्रकविजय जी महाराज ने भुवनतिलक नामक संस्कृत टीका भी लिख है। यहाँ दम्भकषायादि के त्याग, योग ध्यान तथा अनुभव पर विशेष चर्चा है।

१०. ज्ञानसागर अथवा अष्टकप्रकरण—अष्टकद्वात्रिंशार। यह भी श्री यशोविजय जी गणि की रचना है। इसमें आठ आठ पद्यों में ३२ अष्टक रचित हैं, जिनमें पूर्ण मनन, स्थिरता, मोह, ज्ञान, शम आदि ३२ विषयों पर लिखा गया है।

११. मातृकाप्रसाद—श्री मेघविजयमणि (वि.सं. १७४७) 'ॐ नमः सिद्धम्' वर्णाम्नाय पर यहाँ विवरण दिया गया है।

१२. अध्यात्मतत्त्वालोणु—री न्यायविजय। ४८३ पद्यों में निर्मित यह ग्रन्थ प्रकीर्णक उपदेश से आरम्भ होता है। तदनन्तर पूर्वसेवा, ध्यान योग की श्रेणियाँ आदि विषयों को स्पष्ट करता है।

इनके अतिरिक्त विभिन्न भण्डारों में निम्नलिखित पाण्डुलिपियाँ भी प्राप्त होती हैं—

१. अध्यात्मकभेद—इसकी एक प्रति भाण्डारकर ओरि. इन्स्टी. पूना में है।

२. अध्यात्मकलिका—इसकी एक प्रति जैसलमेर में है।

३. अध्यात्मपरीक्षा—यह अज्ञातकर्तृक कृति है।

४. अध्यात्मप्रदीप—इसकी प्रति आगरा में है।

५. अध्यात्मप्रबोध—इसकी प्रति भी आगरा में है।

६. **अध्यात्मलिङ्ग**—इसकी एक पाण्डुलिपि मिलती है।

७. **अध्यात्मसारोद्धार**—इसकी पाण्डुलिपि सूरत में है।

८. **प्रशमरति**—इसमें अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मव्याख्याततत्त्व नामक बारह अनुप्रेक्षाओं की भावनाओं का उल्लेख है।

९. **बरस्पणुवेक्खा कार्तिकेय**—यह अनुप्रेक्षा से सम्बद्ध स्वतन्त्र प्राचीन कृति है।

१०. **द्वादशभावना—अज्ञातकृति**—दिगम्बर कृति।

११. **द्वादशानुप्रेक्षा**—सोमदेव।

१२. **शान्तसुधारण**—विनयविजयगणि (वि.सं. १७२३)। यह गेय काव्य २३४ पद्यों में निर्मित है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ ऐसी चार-चार भावनाओं के यथावत् चित्रण के आठ आठ पद्यों के गेयाष्टक इसमें समाविष्ट हैं। इस पर गम्भीरविजयगणि ने एक टीका लिखी है।

इसी प्रकार अन्य सम्प्रदाय के अनुगामियों ने भी अध्यात्म की पुष्टि के लिए साहित्य की सृष्टि की है। वर्तमान काल में संस्कृत भाषा का विशेष प्रसार न होने से हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं में आध्यात्मिक साहित्य का गद्य और पद्य में निर्माण हो रहा है। 'अध्यात्मरास' नामक रङ्गविलास की कृति इस दिशा में पहला प्रयास है। गुजराती भाषानुवाद अन्य अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों के हो रहे हैं। भाष्यात्मक अनुवादों में अनुवादक के अपने अनुभव और स्वाध्याय के द्वारा प्राप्त ज्ञान का भी पुट दिया जा रहा है और लोकमङ्गल के लिए स्वस्थ परम्परा का विकास किया जा रहा है।

जैन धर्म के मर्मज्ञ मनीषियों ने संस्कृत भाषा का अपने आध्यात्मिक एवं साधना साहित्य के सर्जन में नितान्त प्रयोग किया है। संस्कृत निष्ठा के इस अप्रतिम उदाहरण से संस्कृतानुरागी समाज अवश्य ही गौरव का अनुभव करता है। यह ज्ञान मन्दाकिनी अनवरत बहती रहे, यही ईश्वर से प्रार्थना है।

साभार — संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, एकादश खण्ड
(पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित)
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ ई. १९९७
(पृष्ठ संख्या ४५०-४९०)

ज्योतिषशास्त्रस्यागममूलकत्वम्

गणेशत्रिपाठी

आगमो हि आसृष्टिकालात् अद्यावधि यावत् स्वकीयज्ञानवैभवेभ्यो मातृवत् स्वसन्ततिपरा वेदधर्मन्यायपुराणादिचतुर्दशविद्या: परिपालयन् चरमोत्कर्षमवाप्नोत्। आगमस्य सान्निध्येऽत्र सर्वाणि वेदधर्मशास्त्रपुराणप्रभृतिनि शास्त्राणि पल्लवितानि पुष्पितानि च जातानि। आगमो नित्यो व्यापको शब्दश्च। व्युत्पत्तिदृष्ट्या आ समन्तात् गमयति प्रेरयति चेत्यागम:। वस्तुत: आगमे सर्वासां चतुर्वेदव्याकरणज्योतिष-छन्दनिरुक्तकल्पशिक्षावेदान्तन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रप्रभृतिचतुर्दशविद्यानां समाहारो भवति। अत: यच्छास्त्रं सर्वा: विद्या: निर्धारितलक्ष्यावाप्तये दृष्टादृष्टशक्तिभि: प्रेरयति तच्छास्त्रं आगम इति। आगमस्योत्पत्ति: कथं जाता इति जिज्ञासितं चेत् आगमग्रन्थेषु विषयेऽस्मिन् निवारणं कृतं वर्तते। उक्तं च तत्र एकदा शिव: पार्वती हरिश्च एकत्रीभूय पराविषये चर्चां कुर्वन्त आसन्। तदैव शिवस्य मुखेभ्य: या चर्चा जाता सा गौरिभि: श्रुता अपि च भगवद्भि: विष्णुभि: मतेन युक्ता जाता। तत्क्षणे यच्छास्त्रस्योत्पत्ति: जाता। तच्छास्त्रं आगम इति संज्ञया व्यवहृता। तद्यथा भणितमप्यस्ति—

आगतं शिववक्त्रेभ्य: गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्माद् आगममुच्यते।।

भगवत: सृष्ट्यां निर्माणे जगत: सर्ववस्तुन: समयभेदेन कालक्रमेण भौगोलिकपरिस्थित्या च कुत्रचिद् उपयोगिता जातुचिद् अनुपयोगिता च संदृश्यते। आगमशास्त्रेऽपि पूर्वोक्तदृष्ट्या एव तादृशेन परिवर्तनेन कस्मिंश्चिद् युगे बाहुल्येन कस्मिश्चद् युगे च उपेक्षया संदृश्यते। कालक्रमस्यारम्भेषु सत्त्रेताद्वापरयुगेषु आगमस्य सत्ता तादृशी नास्ति यादृशी कलियुगे प्रचल्यमाना अवलोक्यते। कृतयुगे जनै: स्वकीयं धर्माचरणस्य विधानं वेदेषु प्रतिपादितविषयेषु अवलम्ब्यैव क्रियते स्म। त्रेतायुगे जना: स्वकीयं कर्त्तव्याकर्त्तव्यं स्मृतिग्रन्थं सर्वोपरि मत्वैव कुर्वन्ति स्म। द्वापरयुगे च पुम्भि: स्वकीयं कर्त्तव्याकर्त्तव्याचरणस्य परिज्ञानम् अष्टादशपुराणानि समारुह्य एव आचार्यन्ते। कलियुगे आगमस्य प्रभाव: प्रामुख्येन भवति। यतो हि उक्तमस्ति—

कृते श्रुत्युक्त आचार:, त्रेतायां स्मृतिसम्भव:।
द्वापरे तु पुराणोक्त:, कलावागमसम्भव:।।

पुनश्च तावत् गुणकर्मविभागेन आगमस्य स्वरूपस्य भागत्रयेषु विभाजनं सञ्जातम्। पुरा परा चर्चा यत्र प्रचल्यमानासीत् तत्र येषां मध्ये यः संवादः घटितः यश्च मतानुयायि आसीत्। तेषामेवाधारेण अस्य विभाजनं सञ्जातम्। ते च विभागाः—(क) शैवागमः, (ख) शाक्तागमः, (ग) वैष्णवागमः।

जनैः स्वकीयं मनोऽनुगुणं स्वभावानुसारं देशानुसारं स्वप्रकृत्त्यनुसारं दिग्देशकालानुसारं च निर्दिष्टागमो भजते। यतो हि पुम्भिः मनांसि येषु पदार्थेषु उपगम्यते तदेवात्मनानुभूय श्रेयस्करमिति निर्णीय अनुगम्यते। यथाह वराहाचार्येण *वृहत्संहितायाम्*—

योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति
यस्मिन् मनोव्रजति तत्र गतोऽयमात्मा।।

प्रथमं तावत् ज्योतींषि ग्रहनक्षत्राण्यधिकृत्य कृतं शास्त्रं ज्योतिषमिति। वेदाङ्गिरूपभूतस्य चक्षुरूपात्मकमङ्गं ज्योतिषशास्त्रं सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयेषु विभक्तमस्ति। ज्योतिषशास्त्रमागमशास्त्रं च विद्यारूपिवृक्षस्य शाखाद्वयं वर्तते। एतयोः मिथः सम्बन्धः गहनतमः गम्भीरतमश्च विद्यते। ज्योतिषशास्त्रेणान्तरागमस्य वास्तविकज्ञानं नैव ज्ञातुं शक्यते अपि चागमस्य प्रमाणैर्विना ज्योतिषशास्त्रस्य कल्पना एव नैव विधातुं शक्यते। यतो हि आगमस्य प्रमाणानि एवाधारभूतानि भवन्ति ज्योतिषे। दिग्देशकालनिर्धारणमेव ज्योतिषस्य मुख्यकार्यम्।

आगमे ज्योतिषशास्त्रस्य भूमिका

ज्योतिषशास्त्रमागमस्य दिग्देशकालदिशादिस्वरूपस्य निर्धारणपूर्वकं तत्तद्विषयेषु कर्त्तव्याकर्त्तव्यं च उद्बोध्य युक्तियुक्तमभिमतं प्रस्तौति। आगमेषु प्रतिपादितानां विषयाणां कालनिर्धारणं ज्योतिषशास्त्रानुसारेणैव निर्धार्यते। यथा ब्रह्मणा शतवर्षमायुः उपभुज्यते इति। अजस्य कालनिर्धारणं आयुषः समयनिर्धारणं च ज्योतिषशास्त्रेणैव प्रतिपुष्ट्यते। तथैवोच्यते आर्षग्रन्थे *सूर्यसिद्धान्ते*—

इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तो शर्वरी तस्य तावती।।

अन्यच्च स्मृतिग्रन्थेषु प्राधान्यतामावहन् मनुस्मृतेः ग्रन्थकर्त्तुः मनोः मन्वन्तरव्यवस्थापि अनेन शास्त्रेणैव व्यवह्रियते। मन्वन्तरकालमेकं एकसप्ततिः महायुगानां प्रमाणतुल्यं भवति। तथा चैवम्प्रकारेण चतुर्दशमनवः स्वारोचिषौत्तमतामसरैवत-चाक्षुषवैवस्वतसावर्णिदक्षसावर्णिधमसावर्णिरुद्रसावर्णिदेवसावर्णिइन्द्रसावर्णिप्रभृतयः स्वकीयकालानामुपभुज्य जगतः कालनिर्धारणे सहायकभूता भवन्ति। तदेवाह सूर्यः मयं प्रति *सूर्यसिद्धान्ते*—

युगानां सप्ततिः सैव मन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसङ्ख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः।।

अपि चागमे भूर्भुवादिचतुर्दशभुवनानां उर्ध्वाधःस्थितानां लोकानां वर्णनमवाप्यते। एतेषां चतुर्दशभुवनानां स्थितिः क्रमः परिमाणः आकृतिः विस्तारश्च ज्योतिषशास्त्रानुसारेणैव परिज्ञायते। चतुर्दशलोकेषु भूमेः

अवस्थिति: कुत्र विद्यते। क्षितौ सप्तद्वीपानां द्वीपेषु वर्षाणां वर्षेषु देशानां देशेषु च सरिद्भूधरवृक्षलतादीनां अवस्थितय: कुत्र कथं कया गत्या च वर्तते। इत्येतत्सर्वस्य विवेचनं चक्षुरूपेण ज्योतिषशास्त्रदृष्ट्या एव निर्धार्यते। *सूर्यसिद्धान्ते* आभणितमप्यस्ति—

ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाभिधीयते।
तन्मध्ये भ्रमणं भानामधोध: क्रमशस्तथा।।
मध्ये समन्ताद्दण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
विभ्राण: परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणत्मिकाम्।।
अनेकरत्ननिचयो जाम्बूनदमयो गिरि:।
भूगोलमध्यगो मेरुरुभयत्र विनिर्गत:।।
तत: समन्तात् परिधि: क्रमेणायं महार्णव:।
मेखलेव स्थितो धात्र्या देवासुरविभागकृत्।

ज्यौतिषे आगमस्य व्यापकता

आगम: व्यापकत्वात् सर्वस्मिन् शास्त्रे समानरूपेण प्रतिभाति। ज्योतिषशास्त्रेऽपि आगमस्य प्रभाव आर्षप्रमाणै: प्रचुरतायां समवलोक्यते। ज्योतिषशास्त्रे बहूनि एतादृशस्थलानि समुपस्थितानि भवन्ति यत्र आगमस्य प्रमाणाण्येव एकैव शरणमवलोकितानि भवन्ति। आर्षप्रमाणानि यदि ज्योतिषज्ञा: नाङ्गीकुर्युस्तदा ग्रहाणां चार: स्थिति: भ्रमणं च नैव कलयितुं शक्यते। केनापि प्रकारेण कयापि रीत्या केनचिद् अपि विधिना नैव गणयितुं शक्यते। ज्योतिषशास्त्रस्य प्राचीनसूर्याद्यष्टादशप्रवर्तकै: ग्रहाणाम् उच्चनीचमूलत्रिकोणराशय: प्रतिपादिता अपि च एतदनुसारेण फलादेशस्य या: विधय: कथिता: ते सर्वे आर्षप्रमाणै: समागण्य सम्प्रयत्यपि तादृशे एव स्वरूपे विद्वद्भिर्व्यवह्रियन्ते। तानि च प्रमुखस्थलानि सन्ति।

(क) भगणानां प्रमाणम्

ताराणां समूहो नक्षत्रम् नक्षत्राणां समूहो राशि:, राशीनां समूहो भगण इति। नभस्थितै: ग्रहै: सप्तविंशति: नक्षत्राणामुपभुज्य कालनिर्धारणे समायुज्यते। प्रत्येकं ग्रहै: कक्षाभेदेन भिन्नभिन्नकालेषु भगणानां पूर्तिसङ्ख्या प्रतिपादिता वर्तते। यथा आर्षग्रन्थे *सूर्यसिद्धान्ते* प्रत्येकग्रहाणां—

युगे सूर्यज्ञशुक्राणां खचतुष्करदार्णवा:।
कुजार्किगुरुशीघ्राणां भगणा:पूर्वयायिनाम्।।
इन्दो रसाग्नित्रित्रीषु सप्तभूधरमार्गणा:।
दस्रत्र्यष्टरसाङ्काक्षिलोचननानि कुजस्य तु।।
भानामष्टाक्षिवस्वद्रित्रिद्विद्वयष्टशरेन्दव:।
या भगणै: स्वै: स्वैरुना: स्व स्वोदया युगे।।

एकस्मिन् कल्पे महायुगे वा नक्षत्रग्रहाणां भगणमानानि कियत् परिमितानि भवन्ति। एतत्सर्वम् आगमप्रमाणेनैव सिद्ध्यन्ति न तु अन्यप्रमाणैः। सूर्यसिद्धान्तस्य प्रसिद्धटीकाकारेण कपिलेश्वरशास्त्रिवर्येण प्रोक्तमस्ति यत्—इह युगे कल्पे वा ग्रहाणामेते भगणा इत्यत्र तावदार्षवचनान्येव प्रमाणं परं च गणितस्कन्धे उपपत्तिमानेनात्रागमो मान्य इति तावदुपपत्तिसिद्धा एव ग्रहादीनां भगणा ग्राह्या इति सिद्धान्तोऽपि विदां मान्य इति।

(ख) शीघ्रमन्दोच्चानां प्रमाणम्

ग्रहाणां गतिस्वरूपकारणभूताः अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तिस्वरूपाः शीघ्रमन्दोच्चपाताः भवन्ति। नभसि एतेषां कापि स्थितिः नावलोक्यते किन्तु आगमप्रमाणपुरःसरैः वचनैः अङ्गीक्रियते इति। तदेव ब्रूते आचार्यः सूर्यः—

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः॥

भास्कराचार्यस्तु ग्रहाणां मन्दोच्चानां च भगणकथनावसरे वासनाभाष्ये उक्तमस्ति यत्—ग्रहमन्दोच्चशीघ्रपाताः स्वमार्गेषु गच्छन्तः एतावतः पर्ययान् कल्पे कुर्वन्ति इत्यत्रागम एव प्रमाणम्।

अन्यान्यपि एतादृशस्थलानि ज्योतिषशास्त्रे सन्ति यत्र आगम एवान्तिमं प्रमाणरूपमिति। यथा—अयनांशचलम्, ध्रुवस्थितिः, कालमानम्, भूमेराकर्षणम्, बीजसंस्कारश्चेति प्रभृतयः।

मिथः सम्बन्धः

ज्योतिषशास्त्रस्य प्रवर्तकरूपे अष्टादशमहर्षीणां नामानि समायान्ति। एतेऽष्टादशमहर्षयः स्वकीयज्ञानबाहुल्येन समये समये ज्योतिषशास्त्रस्योत्थानं कर्तुं विस्तारकर्तुं च स्वकीयामूल्ययोगदानं ग्रन्थवर्धापनेनाकुर्वन्। ते च अष्टादशमहर्षयः—

सूर्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठोऽत्रिः पराशरः।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिरा॥
लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः।
शौनकाऽष्टादश चैते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः॥ — नरपतिजयचर्यायाम्

एतेऽष्टादशमहर्षय अपि आगमेषु प्रतिपादितानां विषयाणां संस्तुतिकर्त्तारः ग्रन्थकर्त्तारश्च सन्ति। अतः ज्योतिषस्यानुकरणानि तादृशस्थलेषु प्राप्तानि भवन्ति। अनेन सिद्ध्यति यत् ज्योतिषशास्त्रमागमशास्त्रं च एकस्याः मातुः पुत्रद्वयं वर्तते। ज्योतिषशास्त्रमागमशास्त्रं च नृणां कर्त्तव्याकर्त्तव्येषु विपत्तिषु सन्देहेषु च

ग्रन्थोक्तदृष्ट्या समाधानं विधाय सन्मार्गेषु प्रेरयति। अत: ज्योतिषशास्त्रमागमशास्त्रं च जनानामुपकारकत्वेन योग्यमेव भ्रातृद्वयं वर्तते। यथाह *बृहत्संहितायां* वराहाचार्येण—

ज्योतिषमागमं शास्त्रं विप्रतिपत्तौ योग्यमस्माकम्।

आगमस्याङ्गानि

आगमस्य प्रमुखेषु सप्तसु ब्रह्मविष्णुरुद्रादित्यस्कन्दकूर्मदेवीयामलप्रभृतिग्रन्थेषु ज्योतिषस्य विषयाणां चर्चा पुष्कलेन प्राप्यते। एतेषु ग्रन्थेषु प्राधान्यत्वेन स्वरचक्रचक्रभूबलबलज्योतिषशकुनानि च षडङ्गानि एव स्वीकृतानि सन्ति। एते विषया: ज्योतिषशास्त्रानुरोधेन उपवर्णिता: सन्ति। *नरपतिजयचर्यायाम्* एममुक्तमस्ति—

स्वरचक्राणि चक्राणि भूबलानि बलानि च।
ज्योतिषं शकुनं चैव षडङ्गानि वदाम्यहम्।।

एतानि षडङ्गानि एव ज्योतिषे आगमस्य अन्त:सम्बन्धं जनयन्ति। एतेष्वपि प्राधान्येन अङ्गद्वयमेव विराजते। तदङ्गदयम्—(क) स्वरशास्त्रम्, (ख) शकुनशास्त्रम् च एतेषामङ्गानां ज्ञानेनैव आगमस्यास्तित्वं विराजते। निष्कर्षरूपेणेदं वक्तुं शक्यते यत् ज्योतिषशास्त्रस्य आगमस्य च सम्बन्ध: सुतरां विराजते इति शम्।

शोधच्छात्र:
ज्योतिषविभाग:,
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय:,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय:, वाराणसी।

गणितज्योतिष एवं आगम परम्परा का अन्तस्सम्बन्ध

मधुसूदन मिश्र

उत्पादकं यत्प्रवदन्ति बुद्धेरधिष्ठितं सत्पुरुषेण सांख्या:।
व्यक्तस्य कृत्स्नस्य तदेकबीजमव्यक्तमीशं गणितञ्च वन्दे।।

— *भास्करीयबीजगणित १*

गणितज्योतिष एवं आगम का पारस्परिक सम्बन्ध

वेदपुरुष के षडङ्गों में नेत्र रूपेण प्रतिष्ठित ज्योतिषशास्त्र सिद्धान्त, संहिता एवं होरा रूपी अपने तीनों स्कन्धों से ग्रह स्थिति गतिवशात् शुभाशुभ काल एवं फल का निर्धारण करता है। इन तीनों स्कन्धों में भी सिद्धान्त स्कन्ध जिसे गणित स्कन्ध के पर्याय से जाना जाता है, ज्योतिषशास्त्र का आधारभूत एवं विशिष्टतम पक्ष है। हम यह जानते हैं कि जगत् की प्रत्येक वस्तु एक-दूसरे से सम्बन्ध रखती है। ये सम्बन्ध जैविक हो सकते हैं अथवा भौतिक, फिर चाहे सम्बन्ध व्यक्ति व्यक्ति के हों, व्यक्ति और वस्तु के बीच हों, व्यक्ति और कार्य के बीच हों, वस्तु द्वय के मध्य हों या फिर अन्य किन्हीं दो के मध्य। सम्बन्धों की स्थापना और विवेचना द्वारा अज्ञात को ज्ञात करना ही गणित है। मूल एवं कार्य के अन्तर्भूत सम्बन्धों को ज्ञात करना तथा उनके आधार पर गणना कर परिणाम प्राप्त करना गणित का विषय है। इसीलिए भास्कराचार्य ने अव्यक्त गणित और ईश्वर में अभेदता का विन्यास किया हे। यदि ईश्वर को शून्य एवं मिथ्या जगत् को गणनात्मक संख्या की श्रेणी में रखा जाए तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि जिस प्रकार शून्य एवं नानाविध संख्याओं के योग से गणित की आधारशिला निर्मित होती है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर ने कुछ नहीं से सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की एवं जिस प्रकार शून्य से विभक्त होकर गणितीय अङ्क विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जैसा कि आचार्य भास्कर ने बीजगणित में वर्णन किया है—

अस्मिन्विकार: खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निस्सृतेषु।
बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत्। — *बीजगणित*

अत: साक्षात् नारायण स्वरूप वैदिक वाङ्मय समस्त ऐहिक एवं पारलौकिक ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं को मूर्त रूप देकर उनकी सत्यता, सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता को प्रतिपादित करने में सक्षम हैं। सभी वेदाङ्ग, शास्त्र, विद्याएँ, स्व-स्व सिद्धान्तों की प्रामाणिकता भिन्न-भिन्न प्रमाणों से सिद्ध करती हैं। ज्योतिषशास्त्र चक्षुष्त्वेन प्रत्यक्ष शास्त्र हैं, परन्तु विभिन्न स्थलों पर प्रत्यक्षोपलब्धि के अभाव में अथवा युक्ति से सिद्धान्त के सिद्ध न होने की अवस्था में आगम प्रमाण का भी आश्रय ज्योतिषशास्त्रीय आचार्यों ने लिया है एवं कई अवसरों पर प्रत्यक्ष प्रमाण से सत्यापन न होने के कारण आगमिक स्वरूप का त्याग भी किया है। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र अपने तथ्यों की पुष्टि के लिए प्रत्यक्ष एवं आगम प्रमाण को स्वीकार करते हुए आगम समस्त विभिन्न सिद्धान्तों का अनुसरण अनवरत करता रहा है।

गणितज्योतिष का आगमाश्रयत्व

सर्वप्रथम सृष्ट्यादि युगादि एवं कल्पादि का निर्धारण करने के लिए ज्योतिषशास्त्र में आगम प्रमाण का आश्रय लिया गया है। तद्यथा—

कल्पादस्माच्च मनव: षड् व्यतीता: ससन्धय:।
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गत:।।
अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमेतत् कृतं युगम्।
अत: कालं प्रसंख्याय संख्यामेकत्र पिण्डयेत्।।

— *सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार २२-२३*

यहाँ कालखण्ड की अनवरत शृङ्खला के गत गम्य का निर्धारण आगम प्रमाणों के आधार पर ही किया गया है। कल्पादि एवं सृष्ट्यादि भेद का निरूपण करते हुए सूर्यांश पुरुष ने सूर्यसिद्धान्त में प्रतिपादित किया है कि—

ग्रहर्क्षदैवदैत्यादिसृजतोऽस्य चराचरम्।
कृताद्रिवेदा दिव्याब्दा: शतघ्ना वेधसो गता:।।

— *सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकार २४*

ग्रह-नक्षत्र, देव-दानव, भू-भूधरादि चराचर जङ्गम स्थावर इत्यादि समस्त जगत् की सृष्टि में ४७४०० दिव्य वर्ष अर्थात् ४७४००×३६०=१७०६४००० सौरवर्ष का काल व्यतीत हुआ ऐसा मानने का आधार आगम परम्परा में शामिल पुराण धर्मशास्त्र ही है। जैसा कि सर्वविदित ही है कि सहस्र महायुग प्रमित भूत संहारक कल्प होता है जो ब्रह्मा का एक दिन होता है एवं कल्प प्रमाणिका ही उनकी रात्रि होती है। इस प्रकार कल्पद्वय प्रमित ब्रह्मा का अहोरात्र होता है। कल्पमान मन्वन्तरों महायुगों से युत होता है परन्तु रात्रिकाल की अवस्थिति के कल्प की सत्ता का बोध प्रत्यक्षतया कर पाना नितान्त असम्भव है क्योंकि काल के

नियामक सूर्य की सत्ता का भी सकल चराचर जगत् के अभाव के कारण रात्रिकल्प में अभाव रहता है। जैसा कि वर्णित है—

इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती।।

— *सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकार २०*

ऐसी अवस्था में रात्रिकालीन कल्प की सत्ता का प्रमाण आगम ही है। ब्रह्मा के दिनारम्भ में भूतों का आविर्भाव एवं दिनावसान पर तिरोभाव होता है जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता ८.१८ में भी कहा है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।

इस कल्प प्रमाण की अहोरात्र व्यवस्था से ब्रह्मा शतायु हैं तद्यथा—

शतायुः शतानन्द एवं प्रदिष्टस्तदायुर्महाकल्प इत्युक्तमाद्यैः।

— *सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्याय म. २०*

इसमें भी ब्रह्मा की आधी आयु अथवा सार्धाष्ट आयु व्यतीत हो चुकी है इत्यादि इन सभी प्रत्यक्षहीन एवं उपपत्ति रहित विषयों का मानने का आधार आगम परम्परा है। आचार्य भास्कर गणित क्रिया के निष्पादन के लिए कई स्थलों पर विभिन्न प्रकार के आगमों का अनुसरण न करते हुए कहते हैं—

तथा वर्तमानस्य कस्यायुषोऽर्धं गतं सार्धवर्षाष्टकं केचिदूचुः।
भवत्वागमः कोऽपि नास्योपयोगो ग्रहा वर्तमानाद्युयायात् प्रसाध्याः।।

— *सिद्धान्तशिरोमणि गणिता म. २६*

इस प्रकार स्पष्टतया नानाविध कालमानों का आगमाश्रितत्व परिलक्षित होता है। ग्रहण के प्रकरण में भी सूर्य चन्द्रमा के ग्राहक के रूप में क्रमशः चन्द्रमा एवं भूमा में राहु का समारोपन का हेतु आगम वचनों की सत्यता को अक्षुण्ण बनाये रखना ही है। *सिद्धान्तशिरोमणि* के गोलाध्याय में भास्कराचार्य प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि—

राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम्।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्सर्वागमानामविरुद्धमेतत्।।

— *सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय ग्रह. १०*

नियामक सूर्य की सत्ता का भी सकल चराचर जगत् के अभाव के कारण रात्रिकल्प में अभाव रहता है। जैसा कि वर्णित है—

इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती।।

— *सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकार २०*

ऐसी अवस्था में रात्रिकालीन कल्प की सत्ता का प्रमाण आगम ही है। ब्रह्मा के दिनारम्भ में भूतों का आविर्भाव एवं दिनावसान पर तिरोभाव होता है जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता ८.१८ में भी कहा है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।

इस कल्प प्रमाण की अहोरात्र व्यवस्था से ब्रह्मा शतायु हैं तद्यथा—

शतायुः शतानन्द एवं प्रदिष्टस्तदायुर्महाकल्प इत्युक्तमाद्यैः।

— *सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्याय म. २०*

इसमें भी ब्रह्मा की आधी आयु अथवा सार्धाष्ट आयु व्यतीत हो चुकी है इत्यादि इन सभी प्रत्यक्षहीन एवं उपपत्ति रहित विषयों का मानने का आधार आगम परम्परा है। आचार्य भास्कर गणित क्रिया के निष्पादन के लिए कई स्थलों पर विभिन्न प्रकार के आगमों का अनुसरण न करते हुए कहते हैं—

तथा वर्तमानस्य कस्यायुषोऽर्धं गतं सार्धवर्षाष्टकं केचिदूचुः।
भवत्वागमः कोऽपि नास्योपयोगो ग्रहा वर्तमानाद्युयायात् प्रसाध्याः।।

— *सिद्धान्तशिरोमणि गणिता म. २६*

इस प्रकार स्पष्टतया नानाविध कालमानों का आगमाश्रितत्व परिलक्षित होता है। ग्रहण के प्रकरण में भी सूर्य चन्द्रमा के ग्राहक के रूप में क्रमशः चन्द्रमा एवं भूमा में राहु का समारोपन का हेतु आगम वचनों की सत्यता को अक्षुण्ण बनाये रखना ही है। *सिद्धान्तशिरोमणि* के गोलाध्याय में भास्कराचार्य प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि—

राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम्।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्सर्वागमानामविरुद्धमेतत्।।

— *सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय ग्रह. १०*

वासनाभाष्य में स्वयं आचार्य कहते हैं कि पुराणों एव आगमों में राहु को अष्टम ग्रह माना गया है। श्रुतियों में भी **स्वर्भानुर्ह वा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध** इत्यादि वचन इसी तथ्य को द्योतित करते हैं। पुराणों में भी वर्णित है कि—

सर्वं गङ्गासमं तोयं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः।
सर्वं भूमिसमं दानं राहुग्रस्ते दिवाकरे।।

ज्योतिषशास्त्रीय सृष्ट्युत्पत्ति एवं प्रलय सिद्धान्त का आगमिक स्वरूप

ज्योतिषशास्त्रीय सृष्ट्युत्पत्ति एवं प्रलय सिद्धान्त भी वैष्णवागम तथा पुराणों पर ही आधारित है। सृष्ट्युत्पत्ति के सन्दर्भ में सांख्य मत का ही आलम्बन करते हुए प्रकृति एवं पुरुष के विक्षोभ से बुद्धि तत्त्व की समुत्पत्ति जगत् का सर्जन ज्योतिषशास्त्र में माना गया है तथा क्रमिक उत्पत्ति का वर्णन भास्कराचार्य ने इस प्रकार से किया है कि—

यस्मात्क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महानस्य गर्भेऽहङ्कारोऽभूत्खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेश्च।
ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद्विरश्चेर्विश्वं शश्वज्जयति परमं ब्रह्मतत्त्वत्त्वमाद्यम्।।

— सि.शि. गोला. भु. १

विष्णुपुराण में भी ऐसी ही प्रक्रिया का उल्लेख इस प्रकार से प्राप्त होता है—

वैकारिकस्तेजसश्च भूतादिश्चैव तामसः।
त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्वादजायत।

एवमेव *सूर्यसिद्धान्त* में वर्णित है—

मनसः खं ततो वायुरग्निरापो धरा क्रमात्।
गुणैकवृद्ध्या पञ्चेति महाभूतानि जज्ञिरे।। — *सूर्यसिद्धान्त* भूगोला. २३

इस प्रकार आगमोक्त नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक एवं आत्यन्तिक रूपी चतुर्विध प्रलय का अनुमोदन ज्योतिषशास्त्र में ब्राह्म, प्राकृतिक, दैनन्दिन तथा आत्यन्तिक प्रलय के रूप में किया गया है। ब्रह्मा की शतवर्ष की पूर्णायु के पश्चात् होने वाले प्रलय को प्राकृतिक प्रलय, कल्पावसान पर होने वाले लय को ब्राह्म प्रलय, दैनिक जनन-मरण की प्रवृत्ति को दैनन्दिन प्रलय तथा ज्ञान विदग्धता से अर्थात् स्थितप्रज्ञ की स्थिति आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है। भास्कराचार्य ने *सिद्धान्तशिरोमणि* के गोलाध्यायान्तर्गत भुवनकोश में क्रमशः इन्हें इस प्रकार व्याख्यायित किया है—

वृद्धिर्विधेरह्नि भुवः समन्तात्स्याद्योजनं भूभवभूतपूर्वैः।
ब्राह्मे लये योजनमात्रवृद्धेर्नाशो भुवः प्राकृतिकेऽखिलायाः।।
दिने दिने यन्म्रियते हि भूतैर्दैनन्दिनं तं प्रलयं वदन्ति।

ब्राह्मं लयं ब्रह्मं दिनान्तकाले भूतानि यद्ब्रह्मतनुं विशन्ति।।
ब्रह्मात्यये यत्प्रकृतिं प्रयान्ति सर्वाण्यतः प्राकृतिकं कृतीन्द्राः।
लीनान्यतः कर्मपुटान्तरत्वात् पृथक्क्रियन्ते प्रकृतेर्विकारैः।।
ज्ञानाग्निदग्धाखिलपुण्यपापा मनः समाधाय हरौ परेशे।
यद्यागिनो यान्त्यनिवृत्तिमस्मादात्यन्तिकं चेति लयश्चतुर्धा।।

— सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय, भु. ६२-६६

आगम परम्परा में भी एवमेव प्रकारेण वर्णित है—

नित्यो नैमित्तिकश्चेति तथा प्राकृतिको लयः।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी।। — *भागवतपुराण* १२.४.३८

गणितज्योतिष एवं आगम में विरोधाभास के स्थल

आगम के विभिन्न ज्योतिषशास्त्रीय तथ्यों पर अस्वीकृति भी आचार्यों ने दिखलाई है। यथा पृथ्वी के आधार का निर्धारण करते समय पुराणोक्त कूर्म, शेषनाग के आश्रयत्व का अनवस्थादोषभयात् विरोध भी प्रकट किया गया है, तद्यथा—

मूर्तो धर्त्ता चेद्धरित्र्यास्ततोऽन्यस्तस्याप्योऽन्योऽस्यैवमत्रानवस्था।
अन्त्ये कल्प्या चेत्स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमेः साष्टमूर्त्तेश्च मूर्तिः।।

— *सिद्धान्तशिरोमणि* गोला. ४

पुराणों में भू को समतल एवं चतुर्भुजाकार एक आदर्श दर्पण की तरह माना गया है इस तथ्य की भी समालोचना करते हुए भास्कराचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा होता तो पृथ्वी पर सदैव सूर्य उदित ही दिखाई देता एवं सूर्यास्त का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता क्योंकि द्रष्टा पुरुष के दृष्टिपथ में पुरुष के अवरोधक अन्य पदार्थ की सत्ता का अभाव हो जाता—

यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः।
उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते।।

— सिद्धान्तशिरोमणि गोला. ११

जैन आगम में वर्णित दो सूर्य एवं दो चन्द्र की सङ्कल्पना एवं बौद्धों द्वारा ब्रह्माण्ड में पृथ्वी के निरन्तर अधोपतन के आधारहीन सिद्धान्तों का भी वैज्ञानिक पद्धति से प्रतीकार *सिद्धान्तशिरोमणि* के भुवनकोश में द्रष्टव्य है।

आगम ग्रन्थों में ज्योतिषशास्त्रीय कूटाङ्क पद्धति का भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। वैष्णवागम में प्रसिद्ध माध्वाचार्य विरचित अनुष्टुप् छन्द में विष्णु के स्तुतपरक श्लोक में वृत्त एवं परिधि के स्थिर सम्बन्ध पाई का सङ्केत प्राप्त होता है। यथा π/१० का दशमलव के बत्तीस स्थान तक का निम्नलिखित पद्य में निहित है, Science in Sanskrit (संस्कृतभारती, नई दिल्ली, पृ. ६२ में उद्धृत है)—

गोपीभाग्यमधुव्रातशृङ्गीशो दधिसन्धिगा।
खलजीवति खाताव गलहारा रसन्धरा।।

— *ज्यातत्त्वविवेक*, पृ. 15 (पं. सत्यदेव शर्मा)

वर्णाक्षर कूटपद्धति से π/१० का मान ०.३१४१५९२६५३५८९७९३२३८४६२६४३३८३२७९२ प्राप्त होता है। यहाँ ज्योतिषशास्त्रीय अङ्क पद्धति **कादि नव टादि नव पादि पञ्चक याद्यष्टक तथाक्षः शून्यम्** (वैदिक गणित परिशिष्ट) का वैज्ञानिक एवं मनोहर प्रयोग देखने को मिलता है।

शोधनिष्कर्ष

वस्तुतः आगम परम्परा के ग्रन्थों में सूत्ररूपेण सङ्केतित गणितीय एवं ज्योतिषशास्त्रीय प्रक्रियाओं को आधार बनाकर प्राचीन गणिताचार्यों एवं ज्योतिषाचार्यों से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक भी ज्योतिष एवं गणित के क्षेत्र में विकास किए हैं एवं निरन्तर कर रहे हैं। गोवर्द्धन मठ पुरी के परम पावन जगद्गुरु शङ्कराचार्य भारतीयकृष्णतीर्थ जी महाराज (१८८४-१९६०) ने आगम परम्परा से प्राप्त सूत्रों का विश्लेषण *वैदिकगणित* नामक ग्रन्थ में किया। निस्सन्देह शून्य की विराट् कल्पना एवं दशमलव पद्धति का आविष्कार इसी गौरवशाली आगम परम्परा की ही देन है। वेदों से उद्भूत ज्योतिषशास्त्र के सभी आचार्यों ने समस्त पहलुओं को अपनी कृतियों में निबद्ध किया है। आधुनिक समस्त सिद्धान्तों एवं आविष्कारों के बीच चाहे वह सिद्धान्त आकर्षण, भूभ्रमण या ग्रहण का हो अथवा सृष्ट्युत्पत्ति का सिद्धान्त हो सभी हमारी अक्षुण्ण परम्परा के गर्भ में विद्यमान हैं, आवश्यकता है इस ओर एक सार्थक गवेषणात्मिका दृष्टि की।

शोधच्छात्र (ज्योतिषविभाग),
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय,
काशीहिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी २२१ ००५
चलवाणी ९००५४८४६५५

आगम और महाभारत का अन्तः सम्बन्ध

ईप्सिता मुखर्जी

उपासना का विज्ञान आगम है। गुरु परम्परा आगम में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त करती है। देवतत्त्व के साक्षात्कार के प्रायोगिक पक्ष का रहस्य आगम वेद्य होने के कारण इसे विज्ञान भी कह सकते हैं। देवोपासना में गुरुमन्त्र एवं यन्त्र की तृप्ति साधक को लक्ष्यलाभ में परम सहायक है। मन्त्र, ऋषि, छन्द एवं वर्णनात्मक होता है। जिस प्रकार वेद के अध्ययन में गुरु का महत्त्व है उसी प्रकार उपासना में भी गुरु का महत्त्व है। उपासना की आगमिक विधि का उपदेश पात्रसापेक्ष है। पात्र की परीक्षा गुरु स्वयं करे ऐसा आद्यशङ्कर भगवत्पाद के प्रशिष्य विद्यारण्य मुनीश्वर ने *श्रीविद्यार्णवतन्त्रम्* में विस्तारपूर्वक बतलाया है। शिष्य की इच्छा को उपयुक्त दिशा निर्देश द्वारा गुरु उसके जन्मान्तरीय संस्कारों पर विचार करके शिष्य एवं मन्त्र के धन, ऋण, साध्य, असाध्य, कृच्छसाध्य प्रभृति विश्लेषण के अनन्तर अनुकूल देवता के मन्त्र का उपदेश हितकर होता है। इस प्रकार आगम मन्त्रों के माध्यम से देवता का साक्षात्कार कराने की विद्या आगम का प्रमुख विषय है। संक्षेप में कहा जा सकता है जैसे अपौरुषेय वेद के प्रत्येक मन्त्र का ऋषि छन्द एवं देवता का ज्ञान होने पर ही मन्त्र सार्थक होता है। वैसे ही आगम के भी मन्त्रों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये। निगम एवं आगम में मन्त्रों के सम्बन्ध में तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि वेद के मन्त्रों के महज धारण एवं प्रयोग में वर्ण, कुल, गोत्र, प्रवर, शाखा एवं गर्भाधान से जीवनान्तक के समस्त वैदिक संस्कारों का सम्पादन नितान्त आवश्यक है। वंश शुद्धि प्राथमिक अर्हता है। यथाकाल श्रौत स्मार्त्त संस्कारों का सम्पादन भी नितान्त आवश्यक है। संस्कारहीनता कालातिक्रमण से वृषलता को जन्म देती है। जिससे वेद का अध्ययन एवं परिणाम प्रतिकूल होता है। इसलिये संस्कारहीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नामक द्विज भी वेद के अध्ययन में वर्जित है। स्त्री एवं शूद्र को तो उपनयन विधान न होने के कारण अध्ययन ही निषिद्ध है। वेदान्त के अपशूद्राधिकरण का यही परम रहस्य है। वेदाध्ययन की शुचिता की रक्षा करने के लिए अनेक उपाय किये गये हैं। किसी के प्रति रागद्वेष का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। किन्तु कराल काल के प्रतिकूल प्रवाह में सत्त्व का ह्रास होने के कारण प्राणियों के कल्याण के लिए वेदों में प्रतिपादित कर्म उपासना एवं ज्ञान की सत्य परम्परा की रक्षा हेतु आगम तन्त्र का विस्तार ऋषियों द्वारा ही किया गया है। यन्त्र एवं मन्त्र का सम्मिलित प्रयोग आगम मूलक है।

आगम में दीक्षा का विधान सौर, शाक्त, शैव, वैष्णव, पाञ्चरात्र आदि की स्वपरम्परानुसार विश्व में प्रसिद्ध है। आगमिक उपासना में अधिकारानधिकार विवेक गुरुमूलक ही है। इन विषयों का विस्तार तन्त्र एवं आगम ग्रन्थों में देखा जा सकता है। श्रीमद्भागवत में तीन प्रकार के मखों की चर्चा है—**वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः इति वै त्रिविधः मख।**

यहाँ पर तन्त्र एवं वेद दोनों का प्रयोग जिस मख (यज्ञ एवं उपासना) में हो उसे मिश्र कहते हैं। आगमिक उपासना में स्त्री, शूद्र एवं गोत्र भ्रष्ट ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि भी अधिकारी है। किन्तु वैदिक कर्म एवं उपासना में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुरुष ही अधिकृत है, ज्यों-ज्यों सत्य एवं पवित्रता का ह्रास होता गया त्यों-त्यों आगम एवं तन्त्र के कर्म एवं उपासना विधियों का उत्तरोत्तर विस्तार होता गया। सत्य ह्रास ही युग ह्रास का मापदण्ड है। श्रीकृष्णद्वैपायनव्यास त्रिकालज्ञ थे। उन्होंने प्राणियों के कल्याण के लिए पुराण एवं *महाभारत* की रचना की है, यह श्रीमद्भागवत में स्पष्ट है।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
तदा भारतामाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।।

स्त्री शूद्र आदि को वेद में प्रतिपादित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का ज्ञान पुराण, *रामायण* एवं *महाभारतादि* के श्रवण से हो जाता है। इस प्रकार वेद के धारण, ग्रहण एवं प्रयोगों की शक्ति का द्विजों में ह्रास देखकर भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन ने पुराण, महाभारत, तन्त्र एवं आगमों के माध्यम से सुलभ करके प्राणिमात्र का महान् उपकार किया है। अतः रामायण, महाभारत, अष्टादश पुराण, तन्त्र एवं आगम वेदमूलक तथा वैदिक निधि के कवच है।

महाभारत में यत्र-तत्र वैदिक कर्म एवं उपासनाओं का संकेत है। किन्तु आगमिक एवं तान्त्रिक विधि विधानों का विस्तार है। अर्जुन द्वारा पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए किये गये अनुष्ठान को आगमिक माना जा सकता है। युद्ध पूर्व कृष्ण द्वारा प्रेरित होकर दुर्गास्तोत्र का प्रयोग तान्त्रिक एवं आगमिक हो सकता है। महाभारत काल तक वैदिक एवं स्मार्त्त अग्निहोत्र प्रधानतः प्रचलित थे। युद्धभूमि में रात्रिकालीन संग्राम में चन्द्रोदय होने पर चन्द्रोपस्थान का द्रोणपर्व में उल्लेख है। इस प्रकार महाभारत काल में देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन वर्णित है, ऋषियों की भी उपस्थिति वर्णित है। आदि शङ्कराचार्य ने वेदान्त सूत्र के भाष्य में एक स्थान पर पूर्वजों द्वारा देवताओं के साथ प्रत्यक्ष समव्यवहार का उल्लेख करते हुए उनके समय तक ऋषियों एवं देवताओं के साथ मानवों का सम्बन्ध उत्तरोत्तर शिथिल होता गया तब से तन्त्र एवं आगम का विस्तार तथा वैदिक कर्म एवं उपासना का ह्रास होता गया। इस प्रकार तन्त्र एवं आगम वेद के पूरक है। यह हमारा विचार है।

आस्तिक विचारधारा में अनादि अपौरुषेय मन्त्र ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों को वेद कहते हैं। वेद के कर्म, उपासना और ज्ञान नामक तीन काण्ड है। कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों ही तत्त्वों का परम तात्पर्य या महातात्पर्य धर्म एवं ब्रह्म है। इस प्रकार धर्मोपलक्षित पुरुषार्थ चतुष्टय एवं समस्त फलरूप पुरुषार्थ

का प्रदाता ईश्वर ये ही संक्षेप में वेदार्थ है। महाभारत में पुरुषार्थ एवं दैव का चूडान्त निरूपण है। श्रीकृष्णद्वैपायनव्यास ने स्वयं स्पष्ट किया है कि–

धर्मे चार्थे न कामे च मोक्षे च भरतर्षभः।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।। तथा

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।।

ये दोनों ही वाक्य महाभारत के निगमात्मक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। आगम निगम प्रसूत है। निगम का परम प्रतिपाद्य जैसे कि पूर्व में कहा गया है, ब्रह्म है। उसका प्रथम विवर्त प्रकृति एवं पुरुष के रूप में श्रुति सिद्ध है।

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्।

यह *देव्यथर्वशीर्ष* के वचन है। अर्थात् ब्रह्म ही प्रकृति एवं पुरुष रूप में विवर्तित होकर जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का मूल है। इस प्रकार महाभारत सार सर्वस्व *गीता* में भी स्पष्ट कहा है कि—

प्रकृतिः पुरुषश्चैव विद्ध्यनादि उभावपि।

ये प्रकृति पुरुषात्मक दर्शन ही आगम शब्द से कहा जाता है। प्रकृति एवं पुरुष का संयोग चराचरात्मक जगत् में आनन्द का संचार करता है। यह आनन्द लौकिक एवं अलौकिक भेद से आगम के ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है। महाभारत में वासुदेव तत्त्वों का विस्तार से निरूपण है। वासुदेव शब्द का अर्थ है चराचरात्मक जगत् का अधिष्ठान। अतः इसे देवकीगर्भसम्भूतत्त्व रूप से नियन्त्रित नहीं मानना चाहिये। यद्यपि मधुसूदन सरस्वती प्रभृति महानुभावों ने 'श्रीकृष्ण' पद की शक्ति यशोदास्तनन्धय रूप में भी माना है। वेद-वेदान्तवेद्य वासुदेव का यशोदा स्तनन्धय के रूप में अवतरण श्रुति सिद्ध है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।। *(रुद्राष्टाध्यायी)*

यह श्रुतिवाक्य वेदान्त दर्शन के शास्त्रयोनित्वाद् अधिकरण का मूल भी है। अतः आगम का चरम तात्पर्य प्रकृतिपुरुषरूप उपास्य उपासक भेद से वेद के उपासना काण्ड का विस्तार है जो महाभारत में यत्र तत्र निरूपित है। जैसे भगवान् कृष्ण कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व दुर्गास्तोत्र का स्मरण करने का निर्देश देते हैं, यह पूर्वोक्त है, तथा भीष्म पितामह *विष्णुसहस्रनाम* का निर्वचन करते हैं। द्रोणाचार्य-वध के अनन्तर आग्नेय अस्त्रों के द्वारा कृष्ण एवं अर्जुन को दग्ध होने की स्थिति में विफल अश्वत्थामा को नर-नारायण एवं रुद्रतत्त्व का उपदेश में आगम का विषय है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण-द्वैपायन-व्यास ने कुरु-पाण्डव-युद्ध की आख्यायिका को माध्यम बनाकर महाभारत में आगमिक उपासनाओं का वर्णन करते हैं जिसका पर्यावसान निगम में ही होता है इसलिए *हरिवंशपुराण* में स्वयं व्यास ने कहा है—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आद्यन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते।।

शैव, शाक्त, वैष्णव तथा सौरादि आगम के रूप में वैदिक उपासनाकाण्ड ही प्रतिपादित है, जिसमें शक्तिविशिष्टब्रह्म की उपासना का वैज्ञानिक राजपथ प्रशस्त किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. श्रीमद्भागवत महापुराण – श्रीधरी वंशीधरी टीकाद्वयोपेत।
२. बालभारत – डॉ. पुष्पा सिंह
३. महाभारत - व्यास
४. हरिवंश महापुराण – गीताप्रेस, गोरखपुर।
५. श्रीविद्यार्णवतन्त्र - विद्यारण्यमुनीश्वर।

शोधछात्रा, संस्कृत विद्या विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी का परिचय

श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) ने सन् १९९६ ई. में श्रीविद्या मन्त्रयोग द्वारा भगवती पराम्बा ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना तथा श्रीविद्या परम्परा के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रसार के लिए श्रीविद्या साधना पीठ की स्थापना की। भारतवर्ष में अपने प्रकार की अद्वितीय इस संस्था की स्थापना स्वामीकरपात्री जी महाराज के द्वारा उत्तर भारत में लुप्तप्राय श्रीविद्या उपासना को पुनरुज्जीवित व समृद्ध करने के उद्देश्य से की।

संस्था का भवन

वाराणसी में नगवा क्षेत्र में गङ्गाजी के सुरम्य तट के निकट ही अत्यन्त प्रशस्त और शान्त स्थल में नवनिर्मित चार मंजिल के भवन में यह आश्रम प्रतिष्ठित है। इसमें दो विशाल सभाकक्ष एवं तेरह कक्ष हैं, जिनमें यज्ञमण्डप, अर्चनकक्ष, ग्रन्थालय, शिक्षा एवं अनुसन्धान प्रकाशन विभाग एवं अतिथि कक्ष आदि स्थित हैं।

श्रीविद्या साधना पीठ के अङ्ग विभाग एवं गतिविधियाँ

उपासना, अनुसन्धान एवं शिक्षण, (अध्यापन एवं छात्रावास सहित), प्रकाशन, ग्रन्थालय, साधक प्रशिक्षण/साधकावास एवं अतिथिकक्ष।

साधना पीठ में निगमागम शास्त्रों द्वारा विहित उपासना यथाविधि नियमित रूप से सम्पन्न होती है। दीक्षित साधक/साधिकायें पारम्परिक आचार्य के निर्देशन में यह साधना सम्पन्न कर रहे हैं।

शिक्षण विभाग में छात्रों को सुयोग्य विद्वानों द्वारा वेदशास्त्र का नियमित अध्ययन कराया जाता है एवं उन्हें आगमतन्त्र का सामान्य रूप से तथा श्रीविद्या का विशेष रूप से प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

श्रीविद्या-साधकों के पथप्रदर्शन, श्रीविद्यायन्त्रार्चन पद्धति के प्रशिक्षण आदि के साथ-साथ श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ वाङ्मय का प्रकाशन, श्रीविद्यासाधकों की सेवा, सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए पीठ के द्वार सदा उद्घाटित है। श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन क्रम में *श्रीविद्यारत्नाकर*, *श्रीविद्यावरिवस्या* (पूजापद्धति), *भक्तिसुधा*, *भुवनेश्वरीवरिवस्या*, *साम्बपञ्चाशिका* (हिन्दी व्याख्या) *विरूपाक्षपञ्चशिका* (हिन्दी व्याख्या), *श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र*, *श्रीमहागणपतिवरिवस्या*, *उपचारमीमांसा* आदि के अनन्तर साङ्गोपाङ्ग श्रीविद्योपासना का अपरिमेय सागर ***श्रीविद्यार्णवतन्त्र*** (भाग १-२) हिन्दी भावविवृति सहित सुलभ है।

साधनापीठ में करपात्र स्वामी स्मृति संग्रहालय है, जिसमें आगम के ग्रन्थों का एक ग्रन्थागार है इसमें आगम पर देश और विदेशों में प्रकाशित ग्रन्थों, आगम-तन्त्र की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आरम्भ कर अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन भी आरम्भ किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा श्रीविद्यासाधना पीठ के सम्मुख भव्य उपासना मण्डप एवं श्रीविद्यासाधना की प्रधान अङ्गभूत अनुत्तराम्नायअधिष्ठात्री श्री शाङ्करी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की भव्य प्रतिमा एवं श्रीयन्त्र की स्थापना भी की गयी है, जहाँ प्रतिदिन श्रीयन्त्र की महापूजा होती है।

शिक्षण/प्रशिक्षण

साधनापीठ में इस समय १० छात्र भोजन एवं आवास की सुविधा के साथ निःशुल्क शिक्षण एवं साधना का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

उपर्युक्त सुविधाओं के साथ ही नियमित छात्रवृत्ति एवं छात्रों की शिक्षा पूरी होने पर उनके नाम जमा की गयी एक निश्चित धनराशि देने का भी प्रावधान किया गया है।

अनुसन्धान एवं प्रकाशन

साधनापीठ अपने अनुसन्धान एवं प्रकाशन के कार्यक्रम का और विस्तार करेगा और श्रीविद्या के विभिन्न क्षेत्रों में तथा सामान्यतः आगमतन्त्र के रहस्यों को साधकों तक उपलब्ध कराने हेतु षणमासिकी पत्रिका *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

साधना

साधना के क्षेत्र में देश और विदेश के जिज्ञासु साधकों को समुचित निर्देश और प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए आवश्यक तन्त्र का विस्तार किया जा रहा है।

श्रीविद्या साधना पीठ की गतिविधियाँ २०११-१२

श्रीविद्या साधना पीठ में प्रत्येक वर्ष की भाँति इस वर्ष भी त्रिदिवसीय श्री करपात्री स्वामी आविर्भाव महोत्सव का आयोजन ३० जुलाई से किया गया, इस अवसर पर श्रीविद्या साधना पीठ के दीक्षित साधकों द्वारा श्रीयन्त्र नवावरणपूजन पूर्वक लक्षार्चन, हवन, बटुक, कुमारी तथा सुवासिनी पूजन किया गया, तत्पश्चात् दिनांक १ अगस्त, २०११ को प्रात: गुरु पादुका पूजन सम्पन्न हुआ एवं सायं काल करपात्र स्वामी ग्रन्थागार सभाकक्ष में काशी के विशिष्ट विद्वानों के उपस्थिति में पीठ द्वारा सञ्चालित श्रीदत्तात्रेयनन्दनाथ वेदपाठशाला के वेद विद्यार्थियों द्वारा वैदिक एवं आगमिक मङ्गलाचरण के साथ महोत्सव का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ।

(२) अतिथियों एवं विद्वानों द्वारा स्वामी करपात्री जी के चित्र पर माल्यार्पण किया गया। समारोह अध्यक्ष प्रो. अशोक कुमार कालिया, पूर्व कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पीठ के अध्यक्ष श्रीप्रकाशानन्दनाथ जी एवं सचिव प्रो. कमलेशदत्त जी त्रिपाठी एवं विशिष्ट विद्वान् महामहोपाध्याय प्रो. रेवा प्रसाद जी द्विवेदी, प्रो. रामचन्द्र जी पाण्डेय, प्रो. शिवजी उपाध्याय, डॉ. रामयत्न जी शुक्ल, प्रो. मनुदेव जी भट्टाचार्य तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ एवं परम्परागत कई विषयों के मूर्धन्य विद्वान् एवं विशेष आमन्त्रित जयपुर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रवक्ता डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, ये सभी इस अवसर पर उपस्थित रहे। सचिव, प्रो. कमलेशदत्त जी त्रिपाठी ने सभी अतिथियों एवं विद्वानों का स्वागत किया तथा माननीय अतिथियों एवं अध्यक्ष महोदय को माल्यार्पण किया। काशी के विशिष्ट विद्वानों ने धर्म सम्राट् के विराट् व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर श्रद्धापूर्वक अपने विचारों को व्यक्त किया।

(३) इस अवसर पर *श्रीविद्या मन्त्र महायोग* षाण्मासिकी प्रवेशाङ्क का लोकार्पण, समारोह अध्यक्ष प्रो. अशोक कुमार कालिया जी के करकमलों द्वारा सुसम्पन्न हुआ।

(४) पीठ के सचिव प्रो. कमलेशदत्त जी त्रिपाठी द्वारा *श्रीविद्या मन्त्र महायोग* प्रवेशाङ्क २०११ का सङ्क्षिप्त परिचय एवं स्वामी करपात्री जी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला।

(५) पीठ के सचिव प्रो. कमलेशदत्त जी त्रिपाठी द्वारा **षोडशानन्दनाथ हरिहरानन्द सरस्वती करपात्र स्वामी स्मृति पुरस्कार** (५१०००/- रुपये की राशि) से श्रीविद्या में दीक्षित काशी के मूर्धन्य विद्वान् प्रो. श्रीकिशोर मिश्र जी को सम्मानित किया गया एवं वरिष्ठ विद्वान् के सम्मान (११०००/- रुपये की राशि) से

प्रो. सुधाकर दीक्षित (न्यायशास्त्र) वाराणसी, महामहोपाध्याय पं. सीताराम शास्त्री, वाराणसी एवं पं. बदरी प्रसाद शास्त्री, प्रपूर्णा (राजस्थान) को सम्मानित किये गये।

(६) समारोह अध्यक्ष श्री अशोक कुमार कालिया जी द्वारा स्वामी करपात्री जी महाराज की अद्भुत प्रतिभा एवं उनके द्वारा रचित ग्रन्थों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उनके अप्रकाशित ग्रन्थों की निरन्तर उपलब्धता पर जोर देते हुए अध्यक्षीय भाषण दिया। पीठ के सचिव प्रो. कमलेशदत्त जी त्रिपाठी द्वारा धन्यवाद ज्ञापन किया गया।

(७) श्रीमती भारती हिसारिया द्वारा काशी की ११ विदुषियों एवं डॉ. रवि अग्रवाल जी द्वारा काशी के ५१ विद्वानों को १०००/- रुपये की राशि (प्रति विद्वान्) को सम्मानित किया।

(८) प्रत्येक वर्ष की भाँति विक्रम संवत् २०६८ में दिनांक ०९.०१.२०१२ से ०५.०२.२०१२ तक माघ मास में प्रयाग में श्रीविद्या साधना एवं श्री शाङ्करी देवी सेवा संस्थान का भव्य शिविर लगा। मास पर्यन्त श्रीयन्त्र की महापूजा, सहस्रार्चन, लक्षार्चन, चण्डीपाठ, रुद्राभिषेक, महागणपति सहस्रमोदकार्चन आदि अनुष्ठान होते रहे। पीठ एवं संस्थान द्वारा प्रतिदिन तीर्थयात्रियों एवं संन्यासियों को प्रात: चाय, खीचड़ी एवं मध्याह्न में भोग भण्डारा की समुचित व्यवस्था थी। संन्यासियों एवं तीर्थयात्रियों के लिए विशेष रूप से कम्बल एवं वस्त्र वितरण किया गया। शिविर में अध्यक्ष प्रकाशानन्दनाथ जी, उपाध्यक्ष श्री विनोद दूबे सपरिवार, कोषाध्यक्ष श्री राजेन्द्र सिंह सपरिवार, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा (जयपुर) सपिरवार, श्री द्वारिकानाथ टण्डन सपरिवार, श्री मुरलीधर पाण्डेय सपरिवार, पं. केदारनाथ त्रिपाठी सपरिवार एवं पीठ से दीक्षित शिष्यों की विशाल उपस्थिति बनी रही। अमेरिका स्थित दिवङ्गत स्वामी राम के आश्रम के वर्तमान अध्यक्ष पं. त्रैगुणायत मिश्र अपनी पत्नी, पुत्र एवं कई विदेशी शिष्यों के साथ शिविर में आये एवं अध्यक्ष श्री प्रकाशानन्दनाथ जी के साथ उनकी दो घण्टे तक वार्ता हुई।

(९) श्रीविद्या साधना पीठ के दत्तात्रेयानन्दनाथ स्मृति सभागार में श्रद्धेय शिव सायुज्य प्राप्त गुरु जी का जन्म दिवस फाल्गुन शुक्ल नवमी दिनाङ्क २ मार्च २०१२ वार शुक्रवार २०६८ को पीठ के अध्यक्ष श्रीप्रकाशानन्दनाथ द्वारा पादुका पूजन किया गया, तत्पश्चात् पीठ के सभी शिष्यों ने पादुका पूजन एवं गुरु जी की प्रतिमा पर माल्यार्पण किया। श्री प्रकाशानन्दनाथ जी के सान्निध्य में काशी के विशिष्ट वैदिकों के द्वारा वसन्त पूजा का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ एवं पीठ में विश्व बैङ्क के पूर्व अधिकारी एवं पीठ के उपाध्यक्ष डॉ. विनोद दूबे, सचिव प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी, पीठ के कोषाध्यक्ष श्री राजेन्द्र सिंह, प्रो. युगल किशोर मिश्र, प्रो. श्रीकिशोर मिश्र, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, जयपुर, श्री द्वारिका प्रसाद टण्डन एवं पीठ के शिष्यों की उपस्थिति में *श्रीविद्या मन्त्र महायोग* पत्रिका के द्वितीय अङ्क का लोकार्पण अध्यक्ष श्री प्रकाशानन्दनाथ जी द्वारा किया गया।

(१०) चैत्र मास के नवरात्र में ललिता लक्षार्चन एवं वैदिक पण्डितों द्वारा नव दिवसीय शतपाठात्मक एवं हवनात्मक शतचण्डी अनुष्ठान सम्पन्न हुआ, जिसके संयोजक पीठ के दीक्षित एवं न्यासी श्री इन्द्रेश जी बत्रा थे।

(११) आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा संवत् २०६९ दिनाङ्क २० जून २०१२ से २९ जून २०१२ तक गुप्त नवरात्र में श्री शाङ्करी देवी की स्थापना समारोह के उपलक्ष्य में ललिता लक्षार्चन एवं चतुरावृत्ति शतचण्डी अनुष्ठान सम्पन्न हुआ।

(१२) श्रीविद्या साधना पीठ के प्रकाशन विभाग में पूर्व प्रकाशित *श्रीविद्या पञ्चरत्नम्* अपने संशोधित एवं नवीन कलेवर के साथ पुनः प्रकाशित हुई। इसी प्रकार *श्रीविद्यारत्नाकर* का अष्टम संस्करण संशोधित, परिवर्धित एवं सुसज्जित नवरूप में सङ्गणक टङ्कित कर प्रकाशित किया गया तथा *श्रीविद्या वरिवरस्या* को भी इसी क्रम में पूर्वोक्त विशेषताओं के साथ पुनः नव कलेवर में मुद्रित किया गया। अन्य कई पुस्तकों के प्रकाशन पर कार्य हो रहा है।

(१३) श्रीविद्या साधना पीठ के अन्तर्गत करपात्र स्वामी स्मृति ग्रन्थागार में लगभग २००० आगम एवं तन्त्र के ग्रन्थों को सूचीबद्ध एवं वर्गीकृत किया जा चुका है और आगे भी ग्रन्थागार के विस्तार का कार्यक्रम चल रहा है।

(१४) श्रीविद्या साधना पीठ के अन्तर्गत श्री शाङ्करी देवी सेवा संस्थान में प्राङ्गण में स्थित उपासना मण्डप में नित्य उपासना, यज्ञशाला में यज्ञ आदि एवं गोशाला में गायों की सेवा अनवरत चल रही है। प्राङ्गण में ही 'दत्तात्रेयानन्दनाथ वेद पाठशाला' है जहाँ पर वेद एवं व्याकरण के दो अध्यापक हैं। पाठशाला में १० विद्यार्थी अध्ययनरत हैं। साधना पीठ में प्रवेश करते ही हरेक व्यक्ति को अनुत्तराम्नाय अधिष्ठात्री श्री शाङ्करी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की सर्वत्र कृपा एवं दयामयी दिव्य उपस्थिति की अनुभूति होती है।

❑

लेखकों से निवेदन

१. संस्कृत, हिन्दी, अँग्रेजी भाषाओं में ही लेख पत्रिका में स्वीकृत किए जाएँगे।

२. उपर्युक्त भाषाओं में लिखे गये लेख शुद्ध, स्पष्ट एवं टंकित अथवा सुवाच्य हस्तलिखित होना चाहिए।

३. तन्त्र, आगम, मन्त्र, साधना, उपासना विधि आदि आनुषंगिक विषयों के लेख ही प्रकाशनार्थ स्वीकार किये जायेंगे।

४. शोधस्तरीय, मौलिक तथा नवीन विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक उच्च स्तरीय लेख ही प्रकाशनार्थ स्वीकार्य होंगे।

५. सभी लेख १० फुलस्केप अथवा ए-४ साइज कागज पर एक तरफ टंकित अथवा स्पष्ट हस्तलिखित होना चाहिए।

६. सम्पादकीय मण्डल एवं विषय विशेषज्ञों द्वारा मूल्यांकित एवं संस्तुत मौलिक लेखों को ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया जाएगा।

७. लेखों के साथ अपेक्षित चित्र, चार्ट अथवा डायग्राम आदि भी प्रतिपादित विषय की स्पष्टता के लिए संलग्न किये जाने चाहिए।

८. लेखकों द्वारा प्रेषित लेख पंजीकृत डाक द्वारा अपने व्यय पर सुरक्षित प्रेषित किया जाना चाहिए। प्रेषित लेख की प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित रखें, ताकि लेख अस्वीकार्य्य होने की दशा में आपकी रचना आपके पास संरक्षित रह सके।

९. जो लेख प्रेषित किया जाय वह प्रकाशन से ३ महीने पूर्व कार्यालय में पहुँचना अनिवार्य है।

१०. समस्त लेखकों को, जिनके लेख पत्रिका में प्रकाशित हैं, उनको पत्रिका की एक प्रति डाक द्वारा प्रेषित की जाएगी।

११. प्रकाशनार्थ लेखों को स्वीकृत/अस्वीकृत करने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक मण्डल द्वारा सुरक्षित रहेगा।

१२. पत्रिका में प्रकाशित लेखों में निहित सूचनाओं, विचारों, सामग्रियों आदि का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक का होगा।

१३. सम्पादक मण्डल द्वारा निर्णित शोध एवं मौलिक लेख पुरस्कृत भी किए जा सकते हैं।

१४. लेखों के विषय में कोई विवाद किसी संस्था या न्यायालय द्वारा आपत्ति उठाये जाने पर लेखक द्वारा सीधे इसका प्रत्युत्तर एवं संतोषजनक समाधान प्रस्तुत करना आवश्यक होगा।

१५. तन्त्र आगम से सम्बन्धित दुर्लभ मन्त्र, यन्त्र तथा स्तोत्र आदि भी प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे।

१६. पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ निःशुल्क भेजना आवश्यक है। पत्रिका के जिस अङ्क में समीक्षा प्रकाशित होगी, उसकी एक प्रति निशुल्क उपलब्ध कराई जाएगी।

षाण्मासिकी पत्रिका श्रीविद्यामन्त्रमहायोग के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

फार्म – ४

(नियम ८ के अनुसार)

१.	प्रकाशन का स्थान	:	वाराणसी
२.	प्रकाशन की अवधि	:	षाण्मासिक
३.	मुद्रक का नाम	:	स्टारलाईन
	क्या भारत का नागरिक है?	:	हाँ
	पता	:	सोनारपुरा, वाराणसी
४.	प्रकाशक का नाम	:	प्रकाशानन्दनाथ, अध्यक्ष, श्रीविद्यासाधना पीठ
	क्या भारत का नागरिक है?	:	हाँ
	पता	:	शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
५.	सम्पादक का नाम	:	प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी,
		:	प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
			डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा
	क्या भारत के नागरिक हैं?		हाँ
६.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो तथा जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत के साझेदार व हिस्सेदार हों	:	श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी।

एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त दिया गया विवरण सत्य है।

(प्रकाशानन्दनाथ)
अध्यक्ष, श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी।

श्रीयन्त्रम्

दत्तात्रेयानन्दनाथ द्वारा सम्पादित विरचित ग्रन्थ

श्रीविद्यारत्नाकरः
श्रीविद्याचरिवस्या (पूजा विधि सहित)
श्रीभुवनेश्वरी वरिवस्या
श्रीललितासहस्त्रनामस्तोत्रम्
श्रीमहागणपति वरिवस्या
उपचार मीमांसा
श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् भाग- 1 एवं 2
श्रीविद्या एवं श्रीयंत्र एक परिचय
मंत्र महायोग
तांत्रिक अष्टाङ्ग

श्रीविद्या साधना पीठ के मुख्य उद्देश्य

श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ साहित्य का प्रकाशन।
श्रीविद्या साधकों का पथ प्रदर्शन।
श्रीयन्त्रार्चन पद्धति का प्रशिक्षण।
तन्त्रशास्त्र विषयक अनुसन्धान।

विशेष

दीक्षित अधिकारी साधकों का निःस्वार्थ रूप में प्रशिक्षणादि होता है।
पीठ द्वारा किसी प्रकार का शुल्कादि नहीं लिया जाता है।

प्रकाशक
श्रीविद्या साधना पीठ
वाराणसी - उ.प्र.